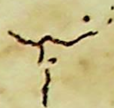
दुर्गादत्त त्रिपाठी

तीर्थ शिला



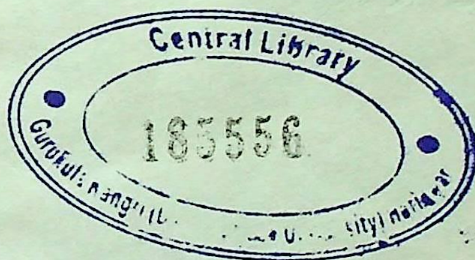


दुर्गादत्त त्रिपाठी

डॉ० राम [illegible] आर्य, महोदय,
की सेवा में

दुर्गादत्त त्रिपाठी

१७.३.७२.





तीर्थ शिला

• प्रथम संस्करण १९७२

• प्रकाशक
कवि श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी नागरिक अभिनन्दन समिति
मुरादाबाद

• मुद्रक
आधुनिक प्रेस
राजोगली
मुरादाबाद

• मूल्य पाँच रुपया



स्वगत

"तीर्थ शिला" का प्रकाशन एक ऐतिहासिक घटना है। इस काव्य-संग्रह का प्रकाशन कवि के अभिनन्दन समारोह के मांगलिक अवसर पर हो रहा है।

इस संग्रह में कविवर श्री दुर्गादत्त जी त्रिपाठी के सड़सठ गीत संगृहीत हैं जो उनके जीवन सोपान के प्रतीक हैं। इन गीतों में कवि की काव्य साधना के सड़सठ वर्षों का इतिहास संकलित है। 'तीर्थ शिला' का प्रकाशन स्वयं में एक सिद्धि है। इन गीतों का संकलन कवि ने स्वयं ही किया है। इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर अभिनन्दन समिति अपने आपको गौरवान्वित अनुभव कर रही है। भविष्य में उनके अप्रकाशित अन्य ग्रन्थों को भी प्रकाशित करने की योजना है। भगवान हमें शक्ति दे कि इस विचार को कार्यरूप में परिणत करने में सफल हो सकें।

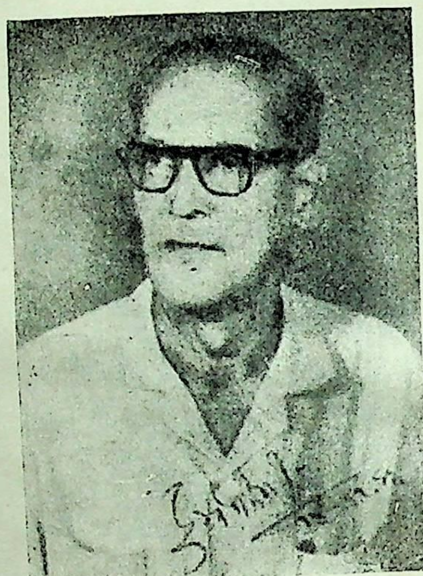
समिति की ओर से मैं इस महान विभूति के श्रीचरणों में अपनी श्रद्धाँजलि अर्पित करता हूँ। सर्वशक्तिमान परमात्मा से प्रार्थना है कि त्रिपाठी जी चिरंचीवी हों और इसी प्रकार मां शारदा की उपासना करते रहें।

गिरिधरदास पोरवाल

अध्यक्ष,

२७ मई १९७२. कवि श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी नागरिक अभिनन्दन समिति,

मुरादाबाद।



कवि

जनपद की महान साहित्यिक प्रतिभा

दुर्गादत्त : एक परिचय

श्री त्रिपाठी जी का जन्म १९ मई १९०६ को मुरादाबाद जनपद के नगर चन्दौसी में हुआ। पिता श्री गोविन्ददत्त त्रिपाठी रेलवे कर्मचारी थे। अपने व्यस्त जीवन के होते हुए भी वे साहित्य साधन और स्वाध्याय का लोभ संवरण नहीं कर सकते थे। उस समय प्रकाशित होने वाला सम्भवतः कोई अभागा पत्र ही होगा जो उनके व्यक्तिगत वाचनालय में न आता हो। ऐसे विज्ञ और साहित्यिक अभिरुचि वाले पिता का प्रभाव उनके पुत्र पर न पड़ता, यह एक असम्भव सत्य होता। श्री त्रिपाठी जी को अपने पिता का योग्य निर्देशन मिला और उनके कदम भी उसी राह पर चल पड़े।

अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में त्रिपाठी जी पर्याप्त समय तक काशी में रहे हैं। वहीं के डी० ए० वी० हाई स्कूल में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की, जहाँ उनको अंग्रेजी और हिन्दी के अध्यापक के रूप में आधुनिक काल के हास्य-रस के प्रसिद्ध कवि स्व० श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब बनारसी' और ब्रजभाषा के कवि श्री भगवानदीन 'दीन' का स्नेह प्राप्त हुआ। प्रतिभा आपमें थी ही जिसके कारण सभी लोग आपकी ओर सुलभता से आकर्षित हो जाते थे। काशी में आपको पर्याप्त समय तक स्व० जयशंकर प्रसाद, पं० विनोद शंकर व्यास, श्री उग्र जी, पं० शिवपूजन सहाय, कविवर शिवदास गुप्त 'कुसुम' जैसे आचार्य कलाकारों का सान्निध्य प्राप्त हुआ। उनके गुणों, उनकी विशेषताओं और उनकी महानताओं को त्रिपाठी जी ने जैसे आत्म-सात कर लिया।

सम्पादक के रूप में—

श्री त्रिपाठी जी पत्रकारों की प्रथम श्रेणी में रहे हैं। उन्होंने दिल्ली से प्रकाशित होने वाले 'महारथी' मासिक में सहायक सम्पादक के पद पर कार्य किया। उस समय महारथी के सम्पादक थे श्री रामचन्द्र शर्मा। श्री शर्मा जी त्रिपाठी जी से अत्यधिक प्रभावित थे। उनकी संपादन-कला से प्रभावित होने पर श्री शर्मा जी ने त्रिपाठी जी के विषय में कहा था कि अपने लम्बे पत्रकार जीवन में उन्हें त्रिपाठी जी जैसा सच्चा साथी नहीं मिला। 'महारथी' कार्यालय में ही श्री जैनेन्द्र कुमार जैन तथा श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी उनके सहयोग में कार्य करते थे।

सरकारी नौकरी—

महारथी के संपादन-काल में त्रिपाठी जी ने अनुभव किया कि भारत में अभी इस तरह का वातावरण उत्पन्न नहीं हुआ है जिसमें कोई तरुण साहित्यकार स्वतन्त्र रूप से साहित्य से अपनी जीविका अर्जित कर सके। अतः अपनी प्रतिभा के विकास और साहित्य साधना के मार्ग पर अग्रसर रहने के उद्देश्य से उसे साहित्यिक नौकरियों के प्रतिभा-शोषक वातावरण से निकल कर कोई अन्य कार्य अवश्य खोजना होगा जिससे उसका पेट सुविधापूर्वक भर सके और फिर वह अपने अवकाश के क्षणों में साहित्य-सृजन करे। इससे एक ओर तो

उसकी जीविका सुविधापूर्वक चल सकेगी और परिणाम स्वरूप साहित्य-सृजन तथा साहित्यिक वातावरण के प्रति उसको अरुचि न रहेगी। उनका विचार रहा है कि साहित्य केवल शौक की चीज रहे तभी तरुण साहित्यकार से कुछ उपयोगी कार्य हो सकता है। यही कारण है कि किसी भी ओर से उत्साहप्रद स्थिति न पाकर त्रिपाठी जी ने अपने मन के प्रतिकूल रेल विभाग में एक गार्ड के रूप में नौकरी कर ली। सन् १९२९ से १९६१ तक निरन्तर सेवारत रहते हुए आपने २५ मई १९६१ को अवकाश प्राप्त किया।

एक गार्ड के व्यस्त जीवन में त्रिपाठी जी ने जितने प्रभूत साहित्य की रचना की है, उसको देखकर आश्चर्यान्वित होना पड़ता है। परन्तु उसको प्रकाशित करने कराने की चिन्ता कभी उनके मन में नहीं व्यापी। इस सम्बन्ध में वे प्रारम्भ से ही संकोची वृत्ति के रहे हैं। अद्यतन उनके साहित्य का समुचित मूल्यांकन न होने का एक मुख्य कारण उनका यह संकोच ही है। अभी तक उनके केवल चार ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं–गाँधी संवतसर (महाकाव्य), शकुन्तला (खण्डकाव्य), अमर सत्य, मंटो मिला था (उपन्यास)।

त्रिपाठी जी की साधना आज भी स्वान्तःसुखाय है। वे लिखते हैं परन्तु ख्वाम-खाह नहीं लिखते, वरन लिखने को एक पवित्र धार्मिक कृत्य मानते हैं। साहित्य और लेखन उनके जीवन में घुल गया है, रम गया है। प्रतिदिन कुछ न कुछ लिखना उनके लिए अनिवार्य है।

साहित्य सृजन—

त्रिपाठी जी ने अपने लेखन के इन ४८ वर्षों में लगभग ४० ग्रन्थों का प्रणयन किया है जिनमें चार महाकाव्य, दो खण्डकाव्य, चौबीस काव्य-संग्रह (जिनमें एक काव्य-रूपक भी है), पाँच कहानी संग्रह और पाँच उपन्यास हैं। काव्य-लेखन से प्रारम्भ करके आपने कहानी व उपन्यास-क्षेत्र में भी सिद्धता प्राप्त की। आज वे साहित्य की इन तीनों विधाओं को सर्वांग पूर्ण करने के लिए हर क्षण सन्नद्ध रहते हैं।

काव्यकार के रूप में—

त्रिपाठी जी ने कविता को एक अत्यन्त पवित्र अनुभूति के रूप में समझा है, इसीलिए उन्होंने किसी हलके क्षण में काव्य-सृजन नहीं किया। सम्भवतः यही कारण है कि वे भौतिक संसार की कोई कविता नहीं लिख सके या जीवन की उन बातों पर प्रकाश नहीं डाल सके जो पार्थिव-जीवन के क्रोड़ में अपनी दैनिक गति से घटित होती रहती हैं। आपने दिव्य प्रेम या रहस्यानुभूतियों की व्यंजना मार्मिक रूप में प्रस्तुत की है।

त्रिपाठी जी ने चार महाकाव्यों की रचना की है–स्वर्ग, निर्बलता का शाप, शंकराचार्य और गाँधी संवत्सर।

'स्वर्ग' सन् २८ से ४० की रचना है। इसमें संसार की नैतिकता के वर्तमान स्वरूप का निरुपण है और भविष्य में नैतिकता का क्या स्वरूप होगा, इस सम्बन्ध में कवि का दृष्टि-कोण वर्णित है। इसमें भावी नैतिकता का एक काल्पनिक रेखा चित्र खींचा गया है।

निर्बलता का शाप (१९३०-१९४६ ई०) में सृष्टि के प्रारम्भ से निर्बलों के शोषण का मार्मिक इतिहास प्रस्तुत किया गया है और बताया गया है कि निर्बल वह निरीह प्राणी है जो सदैव ही सताया जाता रहा है।

शंकराचार्य (१९६९ ई०) आचार्य शंकर के दार्शनिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में लिखा गया महाकाव्य है।

गाँधी संवत्सर (१९६० ई०) में गाँधी जी के समय को एक युग मानते हुए उनके विचारों का विवेचन किया गया है। लेखक के विचार से 'यदि वह न होते तो आज हमारी राजनीति, समाजनीति और विचारधारा का कुछ और स्वरूप होता। उन्होंने देश में भावनात्मक एकता स्थापित करने के अनुष्ठान में गोली खाकर प्राण दिए परन्तु उनकी वरद छाया का स्पर्श अभी तक संसार के असंख्य प्रजावर्ग को अनुप्राणित कर रहा है।' प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में, 'यह ग्रन्थ गाँधी-युग तथा गाँधी जी की विचारधारा एवं आदर्शों को अत्यन्त ललित काव्यमयी भाषा में अंकित करता है।

त्रिपाठी जी के दो खंडकाव्य हैं—'शकुन्तला' तथा 'संधि और विच्छेद'। शकुन्तला १९४० ई० की रचना है जिसमें शकुन्तला और दुष्यन्त की प्रसिद्ध पौराणिक कथा को एक नवीन रूप में प्रस्तुत किया गया है। कवि के शब्दों में कालिदास ने शकुन्तला की मूल कथा में रोचकता उत्पन्न करने के लिए जैसी रहस्यमय कल्पनाओं और काव्य-जनित उतार-चढ़ाव का समावेश किया था वैसा तो कोई क्या करेगा ? हाँ, अपनी कल्पना के रहस्यों और उलझनों का समावेश कर सकता है। लोग कवि गुरु की परिवर्धित और परिष्कृत कथा को अक्षरशः पुराण का कथानक ही समझते हैं। उन्हें ऐसा समझते-समझते शताब्दियाँ भी तो बीत गई हैं। ऐसे विषय में नवीन कल्पनाएँ सुनने को उनकी आस्था ही न होगी, परन्तु वास्तविकता यह है कि इस कथा को लिखने में त्रिपाठी जी ने कालिदास को भी पीछे छोड़ दिया है। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में आज के बुद्धिवादी वर्ग को अविश्वास की ओर ले जाने वाली घटनाओं को माध्यम बनाया है अर्थात् दुर्वाशा का शाप, अंगूठी का नदी में गिरना, अंगूठी का मछली द्वारा खाया जाना और मछली का पकड़ा जाना तथा बाजार में मछुए द्वारा बेचे जाने पर राजकर्मचारियों द्वारा पकड़े लिया जाना, तत्पश्चात् राजा द्वारा घटना का स्मरण इस प्रकार की कथा-कल्पनाएँ हैं। जबकि शकुन्तला खंडकाव्य में नायक दुष्यन्त अपनी प्रेमिका शकुन्तला को सदैव याद रखता है परन्तु लोक लज्जा और शकुन्तला की एक सखी अयुता की ईर्ष्या ही ऐसे कारण हैं जिनके परिणाम स्वरूप दुष्यन्त शकुन्तला को न भूलकर भी भूला हुआ है—

अयुता शकुन्तला की विशिष्ट,
लालिता, वत्सला, सखी शिष्ट,
लखकर उसका उपलब्ध इष्ट,
प्रारब्ध, हुई स्पर्धा - प्रविष्ट !

वैसे थी समवयसा सरला,
यह किन्तु न उसको लगा भला—
× × ×
कुढ़ बाला के भाग्योदय से
चिढ़ उसकी जाप - मुखी जप से,
अयुता थी दुखी सुखोदय से,
थी किन्तु मौन पदवी-भय से।

दुष्यन्त जब कभी भी अपने सेवकों को शकुन्तला का समाचार लाने के लिए कण्व ऋषि के आश्रम में भेजता है, अयुता प्रत्येक बार उन्हें लौटा देती है और शकुन्तला से मिलने भी नहीं देती। इतना ही नहीं वह अपने संतोष को छोड़कर राज दरबार पहुँचती है और दुष्यन्त से कहती है कि शकुन्तला का गर्भस्राव हो गया है। इस समाचार पर दुष्यन्त शकुन्तला के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में चिन्ताकुल होकर स्वयं आश्रम में चलने को उद्यत होता है तो अयुता एक असत्य प्रलाप और करती है कि शकुन्तला काफी समय से गुरु के साथ यात्रा पर गयी हुई है। उसके लौटने पर मैं आपके पास पुनः आऊँगी। इस प्रकार शकुन्तला की ओर से दुष्यन्त का मन हटाने के प्रयत्न में अयुता सफल हो जाती है।

'सरस्वती' मासिक ने तो अपनी समीक्षा में कहा भी था कि 'शकुन्तला' की कथा वस्तु कालिदास की टक्कर की है।

कवि का दूसरा खडकाव्य 'संधि और विच्छेद' (१९४१-१९६५ ई०) कवि के मानसिक पृष्ठ भूमि पर आधारित काव्य है। कवि के दृष्टिकोण से प्रत्येक कवि वास्तव में लेखक है, उसको प्रेरणा देने वाली शक्ति ही वास्तविक कवि कही जा सकती है। कवि के हृदय में पल्लवित होने वाले भाव ही वास्तव में कवि हैं और जब यह भाव शक्ति लेखक को सहयोग दे रही होती है, उसको कुछ लिखने के लिए प्रेरित कर रही होती है तो वह कवि का अपनी भावनाओं के संधि का काल होता है और जब लेखक चाहकर भी कुछ नहीं लिख पाता, उसके भाव उसको सहारा नहीं देते तो वह लेखक का अपने भावों से विच्छेद का काल होता है और यही इस खंडकाव्य की पृष्ठ भूमि है जिसको कवि ने अपनी सशक्त लेखनी द्वारा प्रस्तुत किया है।

त्रिपाठी जी के २४ काव्य ग्रन्थों में उनके लगभग दो सहस्त्र गीत संग्रहीत हैं। इनको चार भागों में बाँटा जा सकता है—

१. सशीर्षक गीत (कवितावली)।
२. गीत खड (गीतावली)।
३. साश्रु अंजलियाँ।
४. काव्य रूपक।

सशीर्षक गीत खंड को कवि ने कवितावली नाम से अभिहित किया है। इस खंड के प्रत्येक गीत को कवि ने विषयानुसार नाम दिया है–शीर्षक दिया है। जीवन के विभिन्न

विषयों का प्रतिपादन इन ३० गीतों में किया गया है। इस खंड के अन्तर्गत कवि की आठ रचनाएँ हैं। 'आरोहा' में १९२० ई० से १९४३ ई० तक के ७६ गीत हैं। 'श्रेयम्वदा', जिसमें संसार को कल्याण का मार्ग निर्देशित करने वाली ५५ कविताएँ संगृहीत की गई हैं, १९२० ई० से १९५० ई० के मध्य रची गयी। 'अनुजा' (१९४३-१९६४ ई०) में कवि की ५७ वर्णनात्मक कविताएँ हैं। कवि ने पुस्तक का नाम 'अनुजा' इसलिए दिया है क्योंकि उनका मत है कि वर्णनात्मक कविताओं का विषय पूर्व-निश्चित होता है इसलिए उनमें कवि को अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता अत: ये वास्तव में अन्य गीतों की अनुजा ही हैं।

'पत्रांक' में १९५० ई० से १९५५ ई० तक विशेष शैली में लिखे गई ७१ कविताएँ हैं। इन सभी कविताओं की पृष्ठ भूमि नव किसलय के समान है। सभी कोमल रसानुभूति की कविताएँ हैं। 'वृन्दा' में कवि के १९५८ ई० से १९६३ ई० तक की ६६ कविताएँ संकलित हैं। 'यज्ञशेष' में १९६३ ई० से १९६६ ई० तक की ६६, 'उर्वरा' में मई १९६६ ई० से मई १९७० तक की ४४ तथा 'गतिक' १० मई में १९७० ई० से अद्यतन कविताओं को संगृहीत किया गया है।

गीत खंड के चौदह सग्रहों में आसव (१९२१ से १९४३ ई०) में ७३, मधुलिपि (१९२१-१९५० ई०) में ६६, सौम्या (१९४३-१९४७ ई०) में ६७, ऋतम्भरा (१९४५-१९५५ ई०) में ४७, भूयसी (१९५५-१९६४ ई०) में ५४, मामिका (१९६५-६६ ई०) में ७०, कलापी (अगस्त १९६६-६७ ई०) में ७८, प्रयति (दिसम्बर १९६७ से दिसम्बर १९६८ ई०) में ९१, सद्यस्का (दिसम्बर १९६८ से मई १९७०) में ८२, त्वदीया (१९६९) में ९०, कल्पद्रुहा (१४ मई १९७० से २८ दिसम्बर १९७०) में ८४, देशिका (५ अक्टूबर १९७० से २८ मार्च १९७१) में ९५, दित्सा (२९ मार्च १९७१ से ९ दिसम्बर १९७१) में ९२ तथा छंदा में १० दिसम्बर १९७१ से अद्यतन ४० गीत संगृहीत किए गए हैं।

साश्रु अंजलियाँ खंड के अन्तर्गत उनका संग्रह 'परिचित और प्रशस्तियाँ' है जिसमें १९२२ ई० से अब तक तक विभिन्न साहित्यिकों, राजनेताओं, समाज सुधारकों के सम्बन्ध में लिखे गए शोक गीत अथवा उनकी प्रशस्तियाँ संकलित की गयी हैं।

त्रिपाठी जी ने एक छोटे से काव्य रूपक 'रक्त ग्रन्थि' की रचना भी की है जो उनके काव्य संग्रह पत्रांक में ही संकलित किया गया है।

कहानीकार के रूप में—

त्रिपाठी जी के पाँच कहानी संग्रहों 'क्रमागत', 'जीने का सहारा', 'विश्वास का लक्ष्य,' 'उतरा हुआ मद', 'धुकधुकी' इन पांचों संग्रहों में ९५ कहानियाँ संग्रहीत की गयी हैं।

त्रिपाठी जी की कहानियों की परिभाषा जीवन की परिभाषा है। कहानी का हर पहलू ज़ीवन के किसी न किसी छोर को छूता हुआ निकल जाता है और मन में समाज के प्रति एक ऐसी चुभन का आभास होता है जो सदैव मानव मन को प्रेरित करती है—सद्वृत्तियों की ओर, सद्विचारों की ओर। आज की कहानियों की तकनीक में उनकी कहानियों में

चरित्र चित्रण और भावाभिव्यक्ति भी उसी महत्ता के साथ उपलब्ध है जिस प्रकार कि वे किसी भी कहानी में कथानक के प्रेमी हैं, और कथानक भी ऐसा जो अपने में किसी न किसी उद्देश्य को छिपाये हुये है। त्रिपाठी जी का विचार है कि 'मैं निरुद्देश्य कभी कोई कहानी नहीं लिखता' परन्तु आपकी इस उद्देश्य-प्रियता में ईसप की कहानियों या हितोपदेश का रूप नहीं है।

उपन्यासकार के रूप में—

त्रिपाठी जी ने हिन्दी साहित्य को पाँच उपन्यास भेंट किये हैं–अमरसत्य (१९४१ ई०), उत्तरदायी (१९६० ई०), मंटो मिला था (१९६१ ई०), बर्लिन की रक्त रेख (१९६२ ई०), जहाँ बँटवारा नहीं होता है (१९६४ ई०)।

'अमर सत्य' सामन्ती पृष्ठभूमि पर आधारित है। इसमें अपने ही देवर द्वारा भाभी को दिए जाने वाले कष्टों की कहानी है। 'उत्तरदायी' मनोवैज्ञानिक आधार पर लिखा गया है, जिसमें एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या को विषय बनाया गया है— 'अनिच्छा से गर्भ में पाली गयी संतान समाज में भी उसी प्रकार अनुत्तरदायी होती है जिस प्रकार कि उसकी माता ने उसके प्रति उत्तरदायित्व का पालन नहीं किया।'

'मंटो मिला था' समीक्षात्मक उपन्यास है जिसमें कहानी के सम्राट मंटो के साहित्य की समीक्षा तथा आलोचना कहानी के माध्यम से ही प्रस्तुत की गयी है।

'बर्लिन की रक्त रेख' बर्लिन के उस बँटवारे के प्रति विचारोत्तेजना उत्पन्न करती है जिसके कारण एक ही परिवार के दो सदस्यों को एक बड़ी दीवार से पृथक-पृथक जीवन व्यतीत करने के लिए छोड़ दिया गया चाहे उनकी मानसिक स्थिति कुछ भी रही हो। उनकी हार्दिक इच्छाओं को उस दीवार में दफना दिया गया और माँ-बाप तथा पुत्र-पुत्री को भी एक दूसरे से अलग कर दिया गया।

'जहाँ बँटवारा नहीं होता है' में भावना और प्रेम के उस पक्ष का निरुपण किया गया हैं जिसमें कभी भी बँटवारे द्वारा दो व्यक्तियों को अलग-अलग हिस्सों में नहीं बाँटा जा सकता। समस्त भौतिक पदार्थों का बँटवारा हो सकता है परन्तु भावना का नहीं। भावनात्मक एकता की ओर बढ़ाया गया एक अद्वितीय कदम है—'जहाँ बँटवारा नहीं होता है।'

इतने महान साहित्यकार का उनके जन्म दिवस पर अभिनंदन – यह महान प्रसन्नता का विषय है। इस व्यक्तित्व ने कितना झेला है, कितना सहा है। परन्तु तब भी कदम-कदम पर साहित्य पुष्प बिखेरे हैं। अपने दिवंगत मित्र जयशंकर प्रसाद के वाक्य 'मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रखा है, इसी से तो उसका स्वर विश्व-वीणा में शीघ्र नहीं मिलता' को अपने उपचेतन में संजोकर त्रिपाठी जी ने व्यक्ति को संस्कृत स्वर में गाने, उस गान की लहरियों में विश्व-मानव को बहने की कामना की है।

त्रिपाठी जी की रचनाएं

महाकाव्य : स्वर्ग, निर्बलता का शाप, शंकराचार्य, गाँधी संवत्सर।

खंडकाव्य : शकुन्तला, संधि और विच्छेद।

काव्य संग्रह : आरोहा, आसव, सौम्या, कृतम्भरा, भूयसी, श्रेयम्वदा, मधुलिपि, पत्रांक, रक्त ग्रंथि, वृन्दा, अनुजा, मामिका, यज्ञशेष, कलापी, प्रयति, सद्यस्का, परिचित और प्रशस्तियाँ, उर्वरा, त्वदीया, कल्पदुहा, देशिका, दित्सा, छँदा, गतिक।

उपन्यास : अमर सत्य, उत्तरदायी, मंटो मिला था, बर्लिन की रक्त रेख, जहाँ बँटवारा नही होता है।

कहानी संग्रह। क्रमागत, जीने का सहारा, विश्वास का लक्ष्य, उतरा हुआ मद, धुकधुकी।

'तीर्थ शिला' की अन्विति

मेरी संगृहीत काव्य कृतियों को यात्रा ई० सन् १९२० से आरम्भ होती है। १९२० से १९२५ तक अनेक ऐसी अभागी कृतियाँ भी थीं जो राजनीति परक थीं और 'कर्मवीर', 'स्वदेश', 'प्रताप', 'अभ्युदय' आदि में प्रकाशित हुई थीं। काव्य-मान की दृष्टि से या मेरी अदूरदर्शिता से मुझे अचानक उनके स्थायित्व की ओर से आशंका हुई और मैंने उन्हें नष्ट कर दिया। फिर भी इन पाँच वर्षों में लिखी गयी अनेक कृतियाँ मेरे संकलनों में संगृहीत हैं। कुल संकलनों में लगभग दो सहस्र काव्य-कृतियाँ होंगी।

स्फुट कविताएँ दो प्रकार की हैं। कुछ सशीर्षक हैं और कुछ अशीर्षक गीति-विधा में हैं। स्नेहियों ने अनुरोध किया कि मैं प्रारम्भ से अब तक की कुछ गीति-कृतियाँ क्रमिक यात्रा का ध्यान रखते हुए संग्रह कर दूँ। यह काम बहुत कठिन था क्योंकि वह सभी संग्रह के योग्य थीं और मुझे उनमें से केवल ६७ कविताएँ चुननी थीं। मैंने सभी पर नितान्त आग्रहहीनता से विचार किया और फिर यही निर्णय कर सका कि वर्षों के क्रम से कोई भी एक दो कविताएँ संग्रह में आ जाय तो काम चल जायेगा। प्रस्तुत संकलन 'तीर्थशिला' गीत-संग्रह इसी ऊहापोह का परिणाम है क्योंकि मेरी दृष्टि में केवल यही नहीं, प्रत्येक कविता प्रतिनिधि कृति के रूप में सम्मिलित की जा सकती थी। सड़सठ कविताओं की सीमा में जो आ गयीं वह आ गयीं।

कैसी हैं, यह आप जानें।

माँ को

वन्दे, जननि शारदे !
माँ, स्वरित विश्व की चेतना हो उठे।
माँ, स्वरित विश्व की चिन्तना हो उठे
सूक्ति सत्तम ललिततम कला - दान दे
काव्य के तार झनकार दे।
विश्व को देव - दुर्लभ गिरा दान दे।
उक्त को उक्थ उद्गीथ का मान दे।
ऋद्धि - सिद्धि - प्रदे ! शुद्ध - बुद्धि - प्रदे
भक्त की भुक्ति - मुक्ति - प्रदे !
वन्दे, जननि शारदे !



१

तुम तरल हास में तैर-रहे-तारों के अधरों से बोलो ।
मैं किलक किलक तुमसे लिपटूँ, तुम छाया-सी पीछे हो लो ।
तुम सुर - वसुधा की अमर शान्ति,
ठुकरा कर मेरी अजर क्लान्ति,
दो उसे चिरन्तन शान्ति-रूप, सोयी आँखें सुख में खोलो ।
तुम स्वर्ण - सृष्टि की किरण - कान्ति,
तुम हीरक - कुल की प्रतिभ भ्रान्ति,
तुम सान्ध्य - अरुणिमा - अवगाहित कोयल की कू कू में बोलो ।
दुर्गम जग - मग की गति देकर,
जन - मन - सम्मोहन - मति देकर,
मलया-सी विद्युल्लेखा-सी मदमाती नभ नभ में डोलो ।
क्षमता दो परहित - पालों की,
पर सुख - हित मिटने वालों की,
जग-जग की व्याप्त विषमता में कवि-कुल का कौतूहल घोलो ।
कल्पनातीत कवि की कविता,
मेरी वरदा, मेरी अमिता,
आँखों की आँखों में रह लो, पलकों के पलनों पर सो लो ।
सत्ता का मद, क्षमता का मद,
अरि तेरे प्रेमी के प्रतिपद,
लीलामयि, ललित कलाओं की परवशता के बन्धन खोलो ।

● १९२२

२

मेरे जीवन के पत्रों का,
जाने कब क्या उत्तर आये।
कब तक सन्देशों से पूछूं,
साथ न क्यों प्रियतम को लाये ?

उनके उत्तर के पंखों पर
मुझे बिठा दे पवन-कलेवर,
आद्य जलधि विस्तार, बहाकर
ले जा, दिखला सिन्धु-सरित-सर।
योग-याग ब्रह्माग्नि, स्फुलिंगों
में बरसा मेरा गायन-स्वर।
जलद - जाल, इन लाज - लुटी
साधों पर ढँक दे रिमझिम अम्बर।
क्यों न आज ही का दिनकर दिन
उत्तर आने का बन जाये ?

प्रियतम के सन्देश सुनाये
मैंने जग जग को जग जग कर।
वह मेरे सन्देश नहीं थे,
जग ने समझा, जग का आदर।
इधर अहंता का कृतान्त मद
हुआ उफन आपे से बाहर।
प्रिय - सन्देश - रिक्त मन सुनता
जग - सन्देश अचिर सुख दुखकर।
प्रियतम ने प्रश्नोत्तर - वेशी
सदा-सुखद सन्देश सुनाये।

३

आये, कवि, तुम काव्य सुनाने।
यात्रा - सुख समत्व - साधक की
श्रुति - क्षमता अपनाने।

स्वर-कणिका रुणु रुणु मणिकावलि-दोलन,
वाद्य-तार - ताड़ित प्रतिकम्पित सुस्वन,
अगणित ममग्रही तानों की
तानों में उलझाने।

कला, प्रतिकला और उपकला लोचन,
इन्हें समझते समय-नाश साधक जन।
लिख पाते न और कुछ, यदि वह
सुनते मन के गाने।

आत्मालोचन से ही समय न बचता।
हृदय सिहरता लख तुमको जग रचता।
पहले सुन लेने दो, बैठूँ
क्या बिन सुने सुनाने?

तुम ही कवि, अपने गीतों के माध्यम।
उनमें आलोचन था ही कब, प्रियतम?
मैं तो क्या, कर सके कलाओं
पर न विवाद सयाने!

• १९२३

४

सुख दुख से चेतना भरी।
बोझल है भार से तरी।
नींद मधुर—
और मधुर नींद
नयनों में ला, विभावरी।

श्वासों ने, प्राण, तुम्हारी
नयनों में नींद उतारी।
सुख-दुख का भेद भुलाया,
जागृति की जल्पना हरी।
नींद मधुर—
और मधुर नींद
नयनों में ला, विभावरी।

पीड़ा जब एक आ लगी,
आहट से दूसरी जगी।
तमसा में इष्ट चेतना
छाया के व्यक्ति से डरी।
नींद मधुर—
और मधुर नींद
नयनों में ला, विभावरी।

प्रिय स्वर साकार हो गया।
पलकों पर भार हो गया।
प्रियतम की चिन्तना बनी
स्वप्नों के द्वीप की परी।
नींद मधुर—
और मधुर नींद
नयनों में ला, विभावरी।

५

रवि-किरणों पर पड़े मनोरम रंगों के झूले,
मेरे आँगन उतर आज नक्षत्र-लोक आया।

अभी रात के गिरे व्योम-सुमनों में सिहरन है,
जो रजनीगन्धा के तरु के नीचे बिखरे हैं।
अभी ओस की उमस भरी रसभरी सजलता से
धुल धुल कर काले कुकुभों के मुखड़े निखरे हैं।
अरुण मयूखों की सिरकी के पीछे प्रसव हुआ।
गगन-गोष्ठ में कामधेनु का बछड़ा रम्भाया।

अब लगता है यह दिन भी जाने को आया था।
सान्ध्य अरुणिमा ने मधुरस वसुधा पर बरसाया।

रंगों के अगणित प्रकार किरणों से बिखर गये।
उर उर के तमिस्र तल्पों में लाली दौड़ गयी।
कवि के उँचे भाव-भवन से तारे टकराये।
मिली स्फुलिंगों से उनके हिमकर को कली नयी।
उल्काओं ने होड़ बदी जब पार्थिव प्रतिभा से,
दमक उठी चिन्मय की शत शत सूर्य्यों-सी काया।

६

मैं मंत्रित-सा चला मंच की ओर।
लगे भूमि पग लगने, खींचो डोर!
खींचो डोर!

मुझे मूक मानव आत्मा के
भौतिक भाव व्यक्त करने दो।
एक शृंखलातीत काल की
गाथा में जीवन भरने दो।
मुझे न थिरकाना, यह मेरे
पौरुष के उपयुक्त नहीं है।
मुझे बना पुतलों का नेता
मौत न पतितों की मरने दो।
दया-द्रवित कर दो पाषाण कठोर।
लगे भूमि पग लगने, खींचो डोर!
खींचो डोर!

या तो मुझे धरा पर समता
लाने की समर्थता देते,
या फिर व्यर्थ भेद-भावों में
निभने योग्य व्यर्थता देते।
यह सब नहीं दिया तो जो कुछ
दिया, वही सब कुछ बन जाये,
साधक जन यदि रहें तुम्हारे
इंगित से सुख-संबल लेते।
छोड़ न देना कहीं दूसरा छोर।
लगे भूमि पग लगने, खींचो डोर!
खींचो डोर!

७

मैं पूछ रहा तुमसे, क्या वसुधा बदल गयी ?
जो मनुज खड़ा था अभी यहां, वह कहाँ गया ?

मैं अभी छोड़कर जिसे गया था,
वह अमान था, दयावान था।
उसको प्रति मानव सहयात्री का
दुख समान था, सदृश ध्यान था।
वह ऊर्जस्वल यौवन की किरणें
बिखराता - सा, द्युति - दाता - सा
जन - हित - चिन्तन साधन में क्षतियों
से विरक्त था, सिद्धशक्त था।
वह जिसके स्वर में मनुजोचित मृदु रसता थी,
वह क्यों न रुक सका ? मेरा आग्रह कहाँ गया ?

यह कौन खड़ा है जड़ - सा उन
पद - चिह्नों पर, युग - धर्मों पर ?
यह कौन खड़ी है उसके पीछे
मान - मुखर, तनुता सुन्दर ?
यह खुले महापथ में उगते
कामांकुर - से, विषयातुर से
दोनों जनहित - जनजीवन से
अनुभूतिहीन हैं, उदासीन हैं।
अब यह दोनों भी चले छोड़ शिशु एक यहाँ।
इस शिशु का पुण्यश्लोक पितामह कहाँ गया ?

●१९२५

८

उस हरी भरी डाली में दुबकी तोती से
मेरे मन के तोते का कोई नाता है।
उस पिच्छल जल-धारा में तिरती हंसी से
जन्मों का परिचय-सा प्रतीत हो आता है।

गेहूँ की बालों से खेलती तितलियों ने
मुझको जीवन में अगणित बार पुकारा है।
सुरभित सुमनों से सुरति-निरत वह मधुमाखी
अपने होठों से मधुरस मुझे पिलाता है।

जब निर्धन का अधभूखा बालक हँस देता,
मिट जाती मेरी भूख हँसी ही से उसकी।
वह भूखी माँ, शिशुओं समेत जो भूखी है,
उसका कातर मुख देख, भूल दुख जाता है।

उस क्षितिज-मेखला से अनुबन्धित तारों में
है एक ज्योति जो मेरी देखी भाली है।
जब निशा दिशाओं के संकेतों में भ्रमती,
मेरा मन उन संकेतों को सुलझाता है।

इस जग में कोई जीव नहीं, जो स्वजन नहीं।
जग के बाहर जो कुछ है, उसमें सृजन नहीं।
जन्मों का परिचय निश्चय अब तक बना रहा,
जो मुझे सभी का समरस स्नेह दिलाता है।

१

किलकारी मार कर हँसो,
उत्सव में रुदन मना है।

सुख - दुख के दोल झूलना,
काँटों के बीच फूलना,
स्वप्नों का सौध सजाना,
पीड़ा का हृदय हूलना।
तारों से जन्म - मरण के
जीवन - परिधान बना है।

तृष्णा की साख न होगी।
ठण्डी यह राख न होगी।
फिर भी यह भूल सके तो
मन मन में माख न होगी।
जग के इस मात्र अशुभ का
ज्ञाता अनजान बना है।

जन - हित में स्वर्ग बसा है।
त्यागों से धन्य रसा है।
उतरा लख तन्त्रकार ने
तन्त्री का तार कसा है।
स्वर - साधक पास खड़ा है,
जब तक यह भान बना है।

१६२३

१०

चान्द्र-सुधा से धुला कलेवर,
रंगा तिमिर से चीवर मेरा।
जापमुखी श्वासें जीवन हैं,
भव - नायक अन्तःस्वर मेरा।

फूलों की पंखुड़ियों-सा मन,
सुरभि - श्वास - पुलकित कर त्रिभुवन,
यौवन - मद - सम्भार स्ववश रख,
वह प्रतिनिमिष कलुषहर मेरा।

काव्य लिप्तता-सी अलिप्तता,
कवि-ममता-सी निर्मम ममता,
अविरत कवि-निर्देश श्रवण कर
ध्यान-बिन्दु अजरामर मेरा।

अपना किसे कहा, कब मैंने ?
समझा पूरक यह सब मैंने।
स्मृति अपनी प्रिय ने प्रदान की,
लुप्त आत्मगत मन कर मेरा।

अपना दुख जँच पड़ा पराया,
पर दुख मोह रूप धर आया।
दोनों मिल बन गये आत्मसुख,
सम प्रभाव दोनों पर मेरा।

आत्म-विफलता दुखभोगी, प्रिय,
आत्म-सफलता सुखभोगी, प्रिय,
श्वास किसी की, जो अपनी है,
वही दिव्यदर्शन स्वर मेरा।

१९२६

११

ज्योति-करण तुम्हारी नयनाभा के
बन अगरिणत बिम्ब उतर आये।
काया में कोश रूप आये, तो
शोणित में बीज बन समाये।

लोकों में सर्ग-प्रलय हुआ करे,
लीला नित सृजन-रत रहेगी।
प्रिय से पा चेतना रहेंगे जग
शाश्वत मृदु हास में नहाये।

साक्षी इस प्राण-प्रतिष्ठा के तुम,
दृश्य जगत रूपस है तुमसे।
दृष्टि हो तुम्हारी तो आत्मा का
आत्मा पर बिम्ब उतर आये।

जनहितकर वृत्ति को चिरंतन लख
शोषक पशु-वृत्ति सकपकाये।
कालकूट अमृत से दबा रहे,
स्वप्नों पर सत्य बिखर जाये।

तन्द्रा भी कर्म-समापन-सी हो,
निद्रा भी कर्म-समीक्षा हो।
सासें सब भोर-सी सुहानी हों।
जागृति तम रात का भुलाये।

१२

सहस्वरित विश्व की सांसों से
जो गान बने, वह गान।
जीवन का सबके लिये सुखद
जो मान बने, वह मान।

जिसमें सम्पूर्ण चलाचल का
सम्भार नियोजित हो,
जिसमें आदान - प्रदानों का
गुणभेद तिरोहित हो,
जिसमें समर्थता का गुमान
अज्ञान बने, वह ज्ञान।

जो जीवन की विभिन्न धाराएं
एक मानता हो,
सबको जीने देकर अपना
कर्तव्य जानता हो,
जो बोध-दान से दिव्य-दृष्टि तक
दान बने, वह दान।

जिसने बनकर आकाश, न भू पर
झुकना सीखा हो,
जिसने दिनमान - समान न थककर
रुकना सीखा हो,
ऐसी निर्भय जन - सेवा की
जो आन बने, वह आन।

१९२७

१३

प्रतिमा का प्रहरी प्रतिमा मात्र रखाता है,
पर देव, स्वतः रक्षित सा, उसके पास नहीं।
प्रियतम की प्रतिमा रीझ गयी आवाहन से—
प्रियतम रीझा या नहीं, उसे विश्वास नहीं।

कर देना था प्रतिमा को प्रियतम में विलीन,
भर लेना था आँखों में प्रिय का विश्व-रूप।
फिर तो उठ जाती आँख जिधर भी, उसी ओर
दीखता व्याप्त कण कण में आरोपित अरूप।
अर्पित कुसुमों के स्मित के सब सम अधिकारी—
है प्रतिमा ही को प्राप्त कुसुम का हास नहीं।

मेरी अञ्जलि में जल है सब जल-निधियों का।
उसमें झिलमिल नभ के तारे प्यारे प्यारे।
पर इसका यह तो अर्थ नहीं, नद रीते हैं,
या नभ में बचे न शेष कहीं भी अब तारे।
सब का उद्गम ही आगम-निगम प्रणेता है।
नियमित लीला है प्रकृति, प्रभूत-विलास नहीं।

मैं रवि-शशि के मुखड़ों में मुखड़ा देख रहा—
वह, जिसका इनमें क्षीण तेज हम-जैसा है।
वह, जो दीपक से प्रलयानल तक का प्रकाश
तनु तनु की समर्थता का संयम जैसा है।
वह अपनी ऊष्मा से कर्मों को प्रतिभा दे।
कर्मठता मेरी ध्येय, कर्म - संन्यास नहीं।

● १६२८

१४

चिन्तन अविराम चला करता है।
दस में दो बार फला करता है।

अन्यथा न सुनने की सीमा है,
अन्यथा न पढ़ने की सीमा है,
पर उनसे कभी कभी ही मेरे
गायक का गीत ढला करता है।

दाता को भेद नहीं भाता है ।
साधक में साध्य भी समाता है ।
धाता कविवाणी के माध्यम से
सबका समभाव भला करता है ।

होने को अमर जिन्हें मरना है,
मरना भी कूट कर्म करना है,
स्वार्थों का मृत्यु की चुनौती से
हिम-गौरव-गर्व गला करता है ।

मृत्यु तन तपाती, मन धुल जाता।
जीवन अपवर्ग-पवन बन आता ।
जब तन के ताप नहीं छल पाते,
मन का व्यवधान छला करता है।

चिन्तक स्वापेक्ष्य का विधानी है।
चिन्तन-हित आत्मरूप-दानी है ।
जब लौ में दीप विलय हो जाता,
लौ-लौ में दीप जला करता है ।

रूप छिपाया प्रिय के आगम ने।
समझा प्रतिरूप जगत को हमने।
निश्छल प्रिय-रूप नहीं छलता है,
प्रिय को प्रतिरूप छला करता है।

१५

सिद्ध वास्तविकता है सत्य - साधना,
परिधि से रहस्यों की दूर,
बहुत दूर !
वह, जहाँ स्वभावमात्र है उपासना,
शक्ति से उपास्यों की दूर,
बहुत दूर !

मुक्ति है अभीति सत्य के समास से,
युक्ति से उपायों की दूर,
बहुत दूर !
भुक्ति हैं अतीत निम्न निजाभास से।
उक्ति प्रत्यवायों से दूर,
बहुत दूर !

विश्व प्राण-संगति है आत्मपोषिका—
आत्महा विसंगति से दूर,
बहुत दूर !
व्यक्ति की सुखेच्छा यदि लोक-शोषिका,
सार्वजनिक हित-हित से दूर,
बहुत दूर !

आत्मा है आश्रय में आश्रयान्विता,
जीव की प्रतीक्षा से दूर,
बहुत दूर !
जन-कुल के कलरव से पुलकिता-स्मिता
सुधि सदा समीक्षा से दूर,
बहुत दूर !

१६

हम परिवेष्ठित जितने ग्रावरणों से,
वह सब ग्रावश्यक हैं निरावरण को !

जग की जिस मिट्टी पर तत्व बिछाकर,
प्रसव नियति ने किया हमारा पुतला,
पुरखों के ग्रवशेष जहाँ बिखरे हैं,
प्रथम ग्रावरण वह मैला या उजला ?
दृश्य प्रकृति के ग्रन्य ग्रावरण बनते,
तन को देते भाव, भावना मन को।

है ग्रसत्य का वात-चक्र मतिहारक।
सत्यमात्र उसकी गति का प्रतिकारक।
तनुतापेक्षित ग्रावरणों के कारण
वह ग्रसत्य का हो पाता न निवारक।
सत्य सूक्ष्म संकेतों से मिलते हैं।
कौन समझता संकेतित विवरण को ?

सूर्यों का जितना प्रभाव तत्वों पर,
तत्वों का उतना ही है सूर्यों पर।
जगदात्मा - ग्रात्मा ग्रन्योन्य प्रभावित,
दोनों की सम्मिलित प्रीति जीवों पर।
दोनों की समीपता समरसता है
ग्रावश्यक दूरी के निराकरण को।

१७

तुम्हीं मिले, तुम्हीं मिले, जहाँ कहीं मिले ।
वृथा अभाव हो गये, वृथा गये गिले ।
विमुग्ध दृश्य-सक्ति से,
मधुर स्वरानुरक्ति से,
निसर्ग केलि-लास से,
जनीन मंत्र-शक्ति से,
स्वतन्त्र चेतना गयी,
स्वरूप-चिन्तना गयी,
निरख अपार यंत्रणा हृदय हृदय हिले ।

कभी तुम्हें न देखकर,
प्रतीति से सिहर सिहर,
अपार सान्त्वना मिली ।
तुम्हें विलोक दृष्टि भर
न ज्ञेय कुछ रहा कहीं,
न दृश्य कुछ बचा कहीं,
हिरण्यगर्भ पद्म-से तुम्हीं सदा खिले ।

श्रमी सभी भले लगे,
निरीह हो गले लगे ।
अखण्ड सैन्य-शक्ति के
गुमान खोखले लगे ।
विरोध जँच सके नहीं,
कुबोल पच सके नहीं,
विनाश जन्म-जन्म के हँसी खुशी झिले ।

१८

कौन लगा पाया है बाँध ?
जनहितकर श्रमजीवी व्यक्ति की स्ववशता को
कौन लगा पाया है बाँध ?
परवशता मन की है, अन्यथा स्ववशता को
कौन लगा पाया है बाँध ?

आशुतप्त सोने के बारूदी खोलों में
नित्य जला करती है आग ।
व्यसनों के व्यवसायी ज्ञान की धरोहर में
भूल गये चिन्तन का भाग ।
ताप के सिवा जन की निर्दय कर्कशता को
कौन लगा पाया है बाँध ?

कामुक हो सकता है मरघट में मानव मन,
हत्या कर भोजन के योग्य ।
एक ओर जीवन-सुख रोटी तक सीमित है,
एक ओर सुख ही सुख भोग्य ।
ज्ञान के सिवा मन की ओछी बालिशता को
कौन लगा पाया है बाँध ?

एक श्रम अनेकों दुख जग के हर लेता है,
एक सुहृद जन-जन प्रतिपाल ।
एक वृत्ति संचय की जातिनाशकारी है,
एक लोभ संसृति का काल ।
नाश के सिवा मानव-मूल्यों की कृशता को
कौन लगा पाया है बाँध ?

१६३०

१९

गीत वृन्द-गायन करते हैं ।
सुन सुन कर नक्षत्र
क्षितिज के प्रांगण में नर्तन करते हैं ।

करने को तो, मनुज ही नहीं,
वसुजन भी क्रन्दन करते हैं ।
यक्ष विरह-गीतों में रोते,
सुरगण परिदेवन करते हैं ।
किन्तु न जाने क्यों गीतों में
मीठे स्वर पेंगे भरते हैं ।

मैं जब गाता गीत, मिलाता
मेरे स्वर से स्वर जापानी ।
उदासीन रहता न बोल सुन,
चीनी हो या पाकिस्तानी ।
मेरे गीतों के लेपों से
घाव पीढ़ियों के भरते हैं ।

होनोलूलू के पंछी भी
मेरे गीतों के सँग गाते ।
रीछ हिमालय के पुलकित हो,
देते ताल, थिरकते जाते ।
मेरे हँसमुख हबशी भाई
मेरे गीतों पर मरते हैं ।

२०

रात हुई, बेसुध जग सोया,
गुमसुम, साधे हुए अबोला ।
दूर कहीं मुझको स्वर देने
बन में कोई पंछी बोला ।

यह भी कोई विवरणदाता--
-सा लगता प्रिय की जगता का ।
परिचयदाता-सा लगता है
मेरे प्रिय की समरसता का ।
यह नितान्त स्वाधीन पात्र-सा
प्रिय की लीला के नाटक का ।
स्थायी स्वर-सा यह रहस्य है
प्रिय के गीतों की प्रियता का ।
यह मेरे विराट का सहचर
आया धर पंछी का चोला ।

मानव का स्वर इस निशीथ में
जाति-बोध देने आयेगा ।
पर समत्व पंछी से मेरा
नहीं रंच भर डिग पायेगा ।
कविता में क्या मानवीयता ?
वह तो सार्वभौम सत्ता है ।
उसे विश्व-वाणी के पद से
गिरने नहीं दिया जायेगा ।
सब का स्वर स्वच्छन्द छन्द है,
वह तो नापा गया न तोला ।

२१

हाय कितनी रम्य मेरे विश्व की झाँकी !
शुभ समागम भूमि जीवों की विविधता की !

शून्य में ब्रह्माण्ड के विस्फोट प्रतिपल हैं,
क्योंकि उनको नाद देना जीव-जन को है।
मुखर करने को चराचर स्वर दिया प्रिय ने,
क्योंकि स्वर से बाँध देना लोक-मन को है।
विश्व-स्वर संपृक्त—कोई स्वर न एकाकी ।

जब स्वजन होंगे परस्पर विश्व के वासी,
राष्ट्र सच्चे राष्ट्र होंगे, जन सुजन होंगे ।
नाम भर का तंत्र होगा ऐक्य से जन के ।
आपसी सौहार्द से निर्धन सधन होंगे ।
एक होंगी भिन्न आस्थाएँ मनुजता की ।

सींचते सब जग महानद, नद, नदी नाले ।
अन्न लोकों का पकाना व्रत अनल का है ।
अन्न देना, वस्त्र देना भूमि का प्रण है ।
सृष्टि को सुरभित बनाना प्रण अनिल का है ।
तत्व-समता में अशुभ है मति विषमता की ।

यदि किसी भी काल में थी विश्व में ममता,
तो हमें प्रभु अन्तरित उस काल में कर दे ।
मात्र जीवन व्यर्थ है यदि रुद्ध जगता है।
चेतना की सतनु यात्रा शान्ति का स्वर दे ।
और द्युति दे वृन्द-निनदित जीवनाभा की ।

२२

बुरा किया जो एक तुम्हीं को
प्राणों की छाँहों में पाला ।
मैंने इतने बड़े विश्व को
क्यों इतना छोटा कर डाला !

पल पल पलक सिहर उठते थे
चिति के मांसल आलिंगन से ।
तुमने दिया सुरति-सुख मेरे
प्राणों को अमूर्त दर्शन से ।
मैं संस्पर्श तुम्हारा पाकर
अपनी मानवता को भूला ।
काँप उठा मेरा अमर्त्य
अमराशा के दोषारोपण से ।
प्रिय मेरी आसक्ति ग्रहण कर
फिर निर्माल्य-रूप लौटाकर
तुमने मेरा ध्यान जगत के
जन जन के चरणों में डाला ।

प्राण, तुम्हारी कल्पित छबि भी
काव्यों की गति से अगेय है ।
तुम जन-रति जन-हित लौटाते,
जो जीवन का परम श्रेय है ।
रूप तुम्हारा रंग रूप से
जगता के जन जान सके हैं ।
विदित हुआ, सर्वस्व तुम्हारा
जन जन के हित में प्रदेय हैं ।
अलका से भी अधिक मान तुम
देते आये मर्त्यपुरी को ।
तुमने पेयों से प्रबोध के
यह दुर्बल मानव-शिशु पाला ।

२३

माँ, न विसंगति हो क्रियता की मानवीय ग्राधारों से ।
मेरे मन के तार बाँध दो जन-जन के स्वर-तारों से ।

मेरा जन्म जन्म का नाता ग्रपने कवि की जगता से ।
उसने जोड़ी बूंद बूंद शोरिणत की बड़ी सजगता से ।
यदि यह उमड़ न पायें बहता रक्त देख मानवता का,
तो जन की जड़ता ग्रच्छी है इस ग्रक्रिय चेतनता से ।
बहरे कर दो कान विश्व के सुख-पीवर उद्गारों से ।
मेरी श्रवरण शक्ति को बांधो पीड़ित की चीत्कारों से ।

जग के मदिर मिलन-गीतों में उत्तेजक मांसलता है ।
जग-दुख से उन्मुख सुख उनका नव संतति को छलता है ।
ग्राग धधकती लख जनपद में नीरो की तंत्री बजती,
मौन सर्वहारा के दुख में यदि जन की वत्सलता है ।
परिचित लोक-व्यथा के स्वर हों गीतों के स्वरकारों से ।
शब्दकार सीखें शब्दों के नये ग्रर्थ श्रमकारों से ।

देशान्तर जन-नाश कहीं भी हो, स्वजनों का मरना है ।
हमें ग्रकाररण हिंसा के विच्छू का डंक कतरना है ।
ग्रविच्छिन्न लघु ग्रंश विश्व के हम भी हैं, इसलिये हमें,
संगति में जीवित जगता की जीवन-यापन करना है ।
ममता घिर न सके निजता या परता की दीवारों से ।
जुड़ा विश्व-हित रहे बुद्धि से, मन से ग्रौर विचारों से ।

२४

वन्दनीय श्रम का वह वर्ष, वह महीना,
शीत में उषा के जो ला सके पसीना ।

ऋतुओं के त्रासों से अक्रिय जन मरते ।
वसनों के रहते भी अवसन-से फिरते ।
श्रमविहीन सुविधा ही कुविधा जीवन की ।
मान भी अभावों में अपमानित करते ।
देह की कमाई में श्रम ही सुखदाता ।
श्रम से ही बुद्धि की कमाई दुखहीना ।

लख कर गृहस्वामी को श्रमविहीन हँसते,
उर उर को उरग नष्ट स्वार्थों के डसते ।
श्रमजीवी निद्रा की बाँहों में सोते ।
धनजीवी झपकी को रात भर तरसते ।
क्लान्ति को मिटाता श्रम हलके से हलका ।
शीत को मिटाता पट धोतर-सा झीना ।

जनहितकर श्रम करना जीवन कहलाये ।
निजहितरत जीवन को मृत्यु कहा जाये ।
मानव प्राणाहुति ले बढ़ता भव-रण में ।
साथ दो, न योद्धा एकाकी रह पाये ।
मर कर ही जनजीवी परवश हो पाये ।
मरकर ही छिन पाये नाग का नगीना ।

१९३९

२५

अब हेय हास या काम-निवेदन
काव्य कहाता है ।
वासना - लोष्ठ भी रत्न-तुला से
तोला जाता है ।

वह महदाशय जिसमें जन-जन की
पीर समाती थी,
वह आत्मशोध की विधा, सदा जो
सब की थाती थी,
वह समरस सार्वप्रतीति, न जिसमें
भेद — भावना थी,
वह माँ, जो सब जीवों के दुख में
सम अकुलाती थी,
वह कविता, जो स्रष्टा कवि की
अविकारी, छाया थी,
अब उसके मांसल अंग अंग को
खोला जाता है ।

अब काव्य असूयाजनित
जल्पनाओं का वाहक है ।
अब गाली को भी कविता का
चोला आवश्यक है ।
अब दुरुपयोग छन्दों का होता
रोष — प्रदर्शन में ।
शब्दों का रस - संजीवन
नैतिक - नाश - नियोजक है ।
पाविनी धार में कविता की
अब कुण्ठा बहती है ।
जनता के पानी में कृमि - नाशक
घोला जाता है ।

२६

दर्शन

मिट्टी मिटती नहीं, बदल आकृति ही जाती है।
वही पुरातन की मिट्टी नूतन बन आती है।

युग युग की रचनाओं में युग-रूप रहा करता।
गत युग की अनसुनी स्वरावलि का अब किसे पता ?
नव युग का निर्माण करो युगधर्मा तत्वों से।
आने वाला समय सकेगा उसका मूल्य बता।
लोक-हितेच्छा ही युग युग की अक्षय रह जाती।
जग-हित की साधना मात्र युग युग की थाती है।

हमें सोचना है कि पुरातन ने क्या हमें दिया।
'क्या न दिया' की पूर्ति हेतु ही हमने जन्म लिया।
हमें सोचना है कि हमारा वर्तमान क्या है ?
हमने अब तक का अपना जीवन किस भाँति जिया ?
इस युग के जाने के पहले सुकृत सँजोने हैं।
गूँज इसी युग में नवयुग की रही प्रभाती है !

वायु-व्योम-दिग्बन्ध-सिन्धु-नग सभी पुराने हैं।
अग्नि और नक्षत्र वही जाने पहचाने हैं।
रक्त पुरातन का अब तक है प्रगत शिराओं में।
नूतन को नव समरों से जन-लोक बचाने हैं।
नवयुग अपनी नूतनता का नीति-नियोजक है।
कालान्तर में यही पुरातनता बन जाती है।

२७

जूझो, मरो और जय पाओ ।
जीवन-नद के आवर्तों से उठकर ऊपर आओ ।

जल ही उद्भव, विभव, पराभव जीवन-नद में ।
सुकुशल नाविक सभी साधकों की संसद में ।
बजती, उठते-गिरते जल के कोलाहल में,
सदृश प्राण की वंशी संपद और विपद् में ।
संघर्षों में गाते रहने से संघर्ष सिमटते ।
प्रियतम की गाथिका सुनो लहरों से और सुनाओ ।

जीवन का आलोक-तेज दो मृत्यु-तमस को ।
उसमें संचारित होने दो जीवन-रस को ।
यदि न लोथ खा खाकर मिटती भूख मृत्यु की,
तो साहस दो मानव से लड़ने का उसको ।
जीवन भर का साथ मृत्यु का, यह न कहीं मर जाये ।
जीवन देते चलो मृत्यु को जीवनवान बनाओ ।

तुम अजेय नाविक, जल पर छा जाने वाले,
जल-विप्लव से सहम न तट पर आने वाले ।
तुम अथाह सागर पर तिरने के अभ्यासी,
जल-कुहेलिकाओं में मार्ग बनाने वाले ।
रख सकती ही नहीं बाँधकर तुम्हे अवश अक्रियता ।
तुम लकड़ी की नाव नहीं हो जो तटस्थ रह जाओ ।

• १९३९

२८

व्यर्थ है अनुमान-विरहित ज्ञान या विज्ञान ।
सत्य से समधिक मधुर है सत्य का अनुमान ।

है सदैव स्वकीयता - परकीयता की प्रीति ।
इष्ट का अनुमान ही देता अभेद प्रतीति ।
मैं नहीं हूँ व्यक्ति, मैं हूँ विश्व, यह अनुमान
विश्व के दुख से बँटाता आत्म - दुख की भीति ।
भीति का बँटना अभयता के लिये अनिवार्य ।
विश्व - रक्षा आत्म - रक्षा की सहज पहचान ।

हम भले ही व्यस्त हों श्रम - काल के अनुसार,
व्यस्त रखता हो भले हमको किसी का प्यार ।
और गाते हों भले हम इष्ट कवि के गीत,
पर रहें सुनते जगत का व्याप्त हाहाकार ।
चेतना वह रुद्ध जो जन - चेतना से हीन ।
लोक - मानस - मान सत्ता का मधुरतम मान ।

हैं सुखों की होड़ से ही सार्वभौम अभाव ।
क्यों न सब मिलकर सुखों में भी रखें समभाव ?
विश्व के सुख - दुख परस्पर बाँटने के हेतु
है मनुजता का सकारण सत्य आविर्भाव ।
शक्ति से पाता अधिक जब शक्ति का दायित्व,
व्यक्ति रह जाता बहुत कुछ जान कर अनजान ।

१९४० ०

२९

विश्व अचेतन रहा,
चेतना बनी रही अनजानी ।
श्रोता सोता रहा,
और मैं कहता रहा कहानी ।

बिम्ब तुम्हारे बनें
प्रभा के छोटे छोटे घेरे ।
उन बिम्बों में प्राण विश्व के
लेते रहें बसेरे ।
इतने गहरे उतर गये तुम
बन्द दृगों में मेरे—
तुम ही जानो तुमने देखा
इनमें कितना पानी ।

पड़ा मुझे अपने दृग-जल से
जग का कल्मष धोना ।
पड़ा तुम्हारी लीला ही
लीला में जीवन खोना ।
प्राण, तुम्हारे लिए न मेरा
होना और न होना ।
मेरे लिए तुम्हारा होना
सिद्ध हुआ वरदानी ।

त्यागों ने गुरु-मंत्र दिये
तो रागों ने दी दीक्षा ।
नित्य नये व्यवधान सत्व की
करते रहे परीक्षा ।
जो आया वह अभिलाषा का
तर्पण करने आया,
पर न स्वस्ति-वाचन को आया
कोई पण्डित ज्ञानी ।

३०

माँ पुकारने पर सुन पातीं, तुम सुन लेते बिना पुकारे।
इच्छाग्राही कान जगत के, मौन-समर्थक कान तुम्हारे।

नित्य विषमता से बढ़ता ही जाता दुर्भिक्षों का घेरा।
नित्य सर्वहारा लखता है असफल-सफल मृत्यु का फेरा।
नन्हे शिशु ओले पाले में ऐंठ ऐंठ नीले पड़ जाते।
कोई देना नहीं चाहता गृह-विहीन को रैन बसेरा।
लोग ठिठुरते मैदानों में, पर सुनसान पड़े रहते हैं
लम्बे चौड़े चौक धनी के, ऊँचे चिने हुए चौबारे।

इच्छा-शक्ति साधना-पथ में प्राणों के बूते चलती है।
चिन्तन की अजस्र रस-धारा प्राणों के हिम से गलती है।
नक्षत्रों से अधिक चमकती प्राणी के चरित्र की काया।
प्राणों की ऊष्मा से वसुधा की नगरी नगरी पलती है।
मन से अधिक शक्ति प्राणों की जो जन सके न जान उन्होंने।
जीवन भर मन को समझाया, पर समझा समझा कर हारे।

कितने अगणित कक्ष बनाये मानव ने अपनी ममता के।
सबसे आगे वह आते हैं जो स्नेही समृद्ध समता के।
सबसे पीछे वह आते हैं जो मर खप सेवा करते हैं।
अगणित आश्रयहीन लौटते द्वार से मानवता के।
तुम गति-मति देते अशक्त को, उपरत कर आत्मिक बल देते।
विश्व विचारान्तर ममतातुर, तुम ममतातुर बिना बिचारे।

३१

कान प्रतीक्षा-निरत सो गये भीग भीग आहट के रस में।
किसे पता था तुम आओगे इस निशीथ के निबिड तमस में।

आओ, प्राण, पधारो अपनी प्रकृति-पीठिका के आसन पर।
तुम आये तो विश्व दीखता वातायन की भाँति मनोहर।
प्रलयान्तर भी रहे तुम्हारी ओर खुला यह प्रेम-झरोखा।
प्रकृति प्रतीक्षा करे तुम्हारी सुमनाञ्जलि ले नित्य निरन्तर।
रही सतत युवती जीवन भर तुम्हे देखने की आशा में
चिर कुमारिका-सी सुधि मेरी उचित वरण के असमंजस में।

प्रवचन-कथन सभी कामुक हैं जनहित से उन्मुख यौवन के,
क्योंकि सृष्टि अपनी सौंपी है तुमने हाथों में जन जन के।
तुम न प्रकृति की या साधक की ममता अपनाने आये हो।
तुम लेखे जोखे लेने को आये सार्वभौम जीवन के।
प्राण धौंकनी है तापों की और रुधिर उनकी आहुति है,
युग-संजीवक तत्व नहीं है यदि मानवजीवन के रस से।

झरनों की मादक कलकल में छिप न तुम्हारी आहट जाये।
जीव-जन्तुओं की क्रीड़ा में विसर न जग की पीड़ा पाये।
सुमनों के स्मित में मुरझाये मानव-मन का त्रास न भूले
प्राणी प्राणी की वाणी में कल्याणी ममता रम जाये।
गीतरूप सन्देश तुम्हारे हरें क्लीवता व्यवहारों की।
भौतिक भय दे सकें न बाधा सत्य-निरुपण के साहस में।

३२

यदि कहीं भी मनुज हो मनुज से विमुख,
प्राण, ऐसी पुरी का दिखाना न मुख।
वह भले हो किसी के लिये आत्मसुख,
किन्तु मेरे लिए कुछ नहीं।

योग की जन-विमुखता न क्षन्तव्य छल,
रह गये जीव अगणित बिना अन्न जल
वह भले हो किसी के लिये आत्मबल,
किन्तु मेरे लिये कुछ नहीं।

कर दिया भक्ति को आज मैंने विदा,
क्योंकि वह त्रस्त जग की नहीं सम्पदा।
वह भले हो किसी के लिये मुक्तिदा,
किन्तु मेरे लिए कुछ नहीं।

व्यर्थ कोई जिया, व्यर्थ कोई मरा,
सिद्धि अपरूप है, सिद्धि में क्या धरा ?
वह भले हो किसी के लिये आसरा,
किन्तु मेरे लिये कुछ नहीं।

शक्ति ही लोक-सुख की न यदि साधिका,
शक्ति के हाथ क्यों आज मानव बिका ?
वह भले हो किसी के लिये शासिका,
किन्तु मेरे लिए कुछ नहीं।

है जहाँ की धरा पाशविकता-प्रसू,
बह रहा हो जहाँ निर्बलों का लहू,
वह भले हो किसी के लिये स्वर्ग-भू,
किन्तु मेरे लिये कुछ नहीं।

१९४४

३३

चेतना से विश्व की उलझी शिराएं हैं ।
देह के अनुरूप मेरी श्रृंखलाएं हैं ।

देह में जो देह सुन्दरतर समाहित
काव्य की उस देह में गंगा प्रवाहित है ।
वह सतत रस-शालिनी अनुगीति साँसों की,
सतत युवती वायु-सी बहती अबाधित है ।
वह चिरन्तन यौवना है साधना जन की,
पड़ रहीं सत्काव्य की जिसपर कलाएँ हैं ।

चित्र कर सकता नहीं भ्रम-भीति का वारण,
नृत्य बन सकता नहीं वैराग्य का कारण ।
मूर्ति दे सकती नहीं सुख सांग संगति का,
लभ्य अभिनय से न सत्यासत्य-निर्धारण ।
तथ्य रहता एक सुन्दर छन्द युग युग का,
जब कि केवल कथ्य में जीवित कथाएँ हैं ।

कीर्ति-बल-धन-धाम से जो अप्रभावित है,
वह स्वयँ ही, उभय, शासक और शासित है ।
बँध रही है साथ उसके विश्व की ममता,
और वह परिवार के हित में समर्पित है ।
तेज गुरुतर है अगौरव काव्य-साधक का
अधिकतम तम-त्रस्त ही गौरव गुहाएं हैं ।

३४

काय - वर्तिका का जब स्नेह - स्नान होगा,
तब तमिस्र युग युग को दीप - दान होगा ।

बन्ध मुक्ति से प्रियतर
होगा तन - पावनकर,
प्राण प्रिय जगत मेरा प्राणवान होगा ।
सब का परिपालनकर,
सब का हित चिन्तनकर,
अंशु अंशुमानों से प्रांशुमान होगा ।

भूख से सुखा लो तन,
ताप लो, तपा लो मन,
इससे नव सन्तति को बल - प्रदान होगा ।
मुखरित जन - वाणी से,
करुणा कल्याणी से
जग कवि का कुत्साहर काव्य - गान होगा ।

छोटे - से आल - बाल
चन्दन का मृदुल नाल
रोपा है—जाने यह कब जवान होगा ?
मेरा तो संग्रह है,
प्राण - मन - प्रतिग्रह है,
किन्तु यही भावी में सुरभिवान होगा ।

३५

व्यस्तता से कर्म की मैं लिख न पाया ।
प्राण, क्या तुम गीत लिखवाने लगे थे ?
चिन्तनाजनि पद - नखों से दीप्त करते,
क्या तुम्हीं मुझ में उतर आने लगे थे ?

कुछ मुझे हिलगा रखा मानव - रुदन ने,
पाठ लम्बा सा पढ़ा श्रम ने दिया कुछ ।
कुछ मुझे भरमा रखा आत्मीय जन ने,
समय नीरस गोष्ठियों ने ले लिया कुछ ।
अधगुने कुछ बोल गूँजे किन्तु उनके
अर्थ शब्दों के परे जाने लगे थे ।

खींच ही लायी तुम्हें फिर आर्ति जन की,
मान कर पाये उपेक्षा पर न इनकी ।
प्राण, समुदय ने तुम्हारे ही घटायी
रात की तमसा बढ़ाकर आयु दिन की ।
पूर्व इसके मैं न यद्यपि देख पाया,
किन्तु तुम पल को न अनजाने लगे थे ।

ताल, पदतल की तुम्हारे, चेतना बन
मदिर सागर में रही लहरें उठाती ।
गीत स्वर - लहरी उठी आलोक - मुख से ।
प्रकृति सुनकर रही हँसती खिलखिलाती ।
प्राण, करुणा ने तुम्हारी भेद खोला ।
तुम भला कब भेद बतलाने लगे थे ?

३६

प्राण, दो प्रीति को, मीत मेरे,
प्यास बढ़ने लगी है मनों में।
माघ में भी न वह घन घिरेंगे,
खोजते तुम जिन्हें सावनों में।

शक्ति भी स्त्रैण होकर रहेगी,
ज्ञान भी दास मन का रहेगा।
दे सका यदि सभी को न जीवन,
शेष फिर प्राण में क्या बचेगा ?
रुद्ध निःश्वास की हिचकियों से,
बद्ध निष्प्राण आलिङ्गनों में।

मीत मेरे, मदिर गीत मेरे,
तृप्त कर लोकजीवी बना दो।
विश्व का प्रेम मुझसे न छीनो,
आत्म - उत्सर्ग की प्रेरणा दो।
भर सकूँ गीत सन्तोष - सुख के,
भुखमरे विश्व के क्रन्दनों में।

मीत मेरे, अनासक्ति देकर
काम - सुख कर्म - सुख में बदल दो।
स्पर्श के स्निग्ध संकर्षणों से,
कर मलिन वासना को विमल दो।
स्वीय स्वर एक मैं भी मिला दूँ,
विश्व के मुग्ध सहगायनों में।

१९४८

३७

उलझ कहीं जाय न सद्भाव श्रृंखला ।
व्यवधानी स्मृतियों का भूलना भला ।

शेष प्रेय भोगों का विगलन उच्छिष्ट,
शेष फल सुकर्मों का जीवन - रस इष्ट ।
सार्वभौम यत्नों से रहते पठनीय,
गल जाते धरे - धरे संस्कृति के पृष्ठ ।
बुझती सुकविता से धरती की प्यास ।
पाताली नाली - सी निम्नगा कला ।

मानदण्ड सुख का है कायिक परितोष ।
मन का हर पाता है दैन्य न धन - कोष ।
सिद्धियाँ अभावों में रहतीं सम्पन्न ।
ज्ञान को सुखों से लग जाता दृग-दोष ।
बुद्धि को दुखों से महनीयता मिली ।
व्यक्ति को सुखों की अनुभूति ने छला ।

निश्चय है अति सुख के मादन से क्लेश ।
लोभ - लुप्त रह जाते जन - हित - सन्देश ।
गर्व एकदेशी है जग - सुधि से हीन—
झूठे घटनास्थल का झूठा परिवेश !
अब तो अभावों का सह्य हुआ देश ।
अब तो त्रयतापों में स्वाद आ चला ।

३८

सुनने को प्रिय का आह्वान,
अंग अंग बन जायें कान ।
उन अगणित कानों को खोल,
सुना करुँ जन - मन के गान ।

संज्ञा से अब तक सुन सुन कर जीवित हूँ ।
इससे पाकर दिशा - ज्ञान सुविधागत हूँ ।
स्वर मिलता सबको समान इस सुनने से ।
मैं इस स्वर - ऊर्जा से ही शुभचालित हूँ ।
जीवन की कन्था में बद्ध,
स्वर पौरुष के कर्म - समान ।
प्रियतम के प्रियतम सन्देश
सुन होता प्रियतम का भान ।

प्रिय के स्वर ने देहों में बल तेज भरा ।
स्वर-संग्रह कर हुई मर्त्य काया अमरा ।
स्वरालोक से पिण्ड तमस मन के निखरे ।
कर्म भूमि बन गयी स्वरों से वसुन्धरा ।
स्वर की कीली पर गतिशील
नक्षत्रों के नर्तित यान ।
श्रव्य नहीं स्वर के अतिरिक्त
मेरे जीवन का आख्यान ।

१६५०

३९

आसरा वन के तुम्हीं
रह गये मन के लिये।
भूलना तुम न मुझे
मेरे जीवन के लिये।

प्राण, रहने दो मगन
अपने आधीन मुझे।
लोक-हित से न रखो
तुम उदासीन मुझे।
व्यर्थ आयुष्य न दो,
शक्ति से हीन मुझे।
तुम अकिंचन न बनो
मुझ अकिंचन के लिये।

बाढ़ में जीव बहे,
भीड़ मुरदों की जुड़ी।
सुन के आघात लगा,
नींद नयनों की उड़ी।
कभी आसाम बहा,
कभी जलपाइगुड़ी।
राज्य के पास न धन
जल-नियंत्रण के लिये।

तोड़ दे साँस कोई
न्यूनतम धन के विना।
कोई औषध के बिना,
कोई भोजन के विना,
जीविकाहीन रहे
कोई साधन के विना।
कौन है, तुमने रचे
विश्व-सुख जिसके लिये ?

४०

सुरदुर्लभ कर्म - याम, एक याम और सही ।
एक सुबह और सही, एक शाम और सही ।

जीवन भर सुनना है, सुन-सुन कर लिखना है ।
जो कुछ प्रिय चाहे, वह लिख लिख कर रखना है ।
इसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष, किसी बाधा से,
आपको बचाना ही आपको निरखना है ।
ध्यान से हटाना है आत्मशान्ति - हन्ता को ।
भूले अनगिनत नाम, एक नाम और सही ।

उसने जन - काया को देवों की मति दी है ।
उसने जड़ जंगम को जीवन की गति दी है ।
उसने सुख - वांछा को विश्वरूप सौंपा है ।
उसने ही विरति और उसने ही रति दी है ।
प्रियतम का देह - धाम देखकर समझ लेना,
चार धाम देखे तो एक धाम और सही ।

एक युग मिटाने में दास - प्रथा बीत गया ।
एक युग मिटाने में दैन्य - व्यथा बीत गया ।
एक युग मिटाने में आक्रमण व्यतीत हुआ ।
एक युग निरर्थक भी यथा - तथा बीत गया ।
शेष अभी मानव की भूख को मिटाना है ।
काम किये इतने तो एक काम और सही ।

१९५८

४१

प्राण के साथ नाता लगा सो लगा,
विश्व के साथ नाता लगा।
जीव जो दीख पाया, वही आँख की
राह उर में समाता लगा।

व्यक्ति ने द्वार खोले अनासक्ति के,
व्यक्ति ही विश्व-प्रेमी बना।
व्यक्ति ने ही दिया तेज निस्तेज को,
दी अभावार्त को सान्त्वना।
जो स्वयं एक युग जी न पाया, वही
युग-युगों का विधाता लगा।

दृश्य आसक्ति के जो दिखाई दिये,
पास रहते हुए दूर थे।
जो अलख तत्व जीवन-विकासक रहे,
दूर वह एक पल को न थे।
दूर से दूर प्राणी अनासक्ति-वश
पास से पास आता लगा।

इंगितों से खगों ने कुशल पूछ ली,
वध्य पशु ने विदा व्यक्त की।
त्रस्त मानव उतरता हृदय में लगा,
बाँधता ग्रन्थियाँ रक्त की।
जीव प्रत्येक अधिकारपूर्वक मुझे
पास अपने बुलाता लगा।

४२

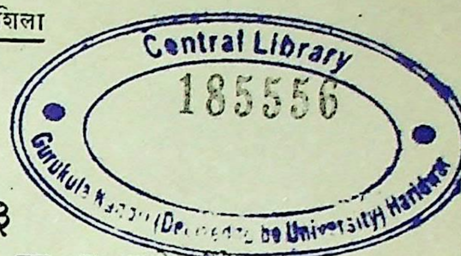
साधक किसी लोक का भी हो,
वह सबका सम - वन्दनीय है ।
विश्व - प्राण - सा निज सुख उसका
तनुगत रहते भी तुरीय है ।

कलाकार कवि जितने भी हैं,
मेरे प्रिय के अनुग्रही हैं ।
वह दुराग्रही भ्रान्त मनुज के
दिशा - निदेशक रश्मि - रथी हैं ।
जो निज दुख पर सुख में बदले,
वह सहानुभव अतुलनीय है ।

पोष्य न केवल मैं या मेरा ।
यह तो है छोटा - सा घेरा ।
क्यों अपनों के बीच बाँटता
अगणित जन का भाग लुटेरा ?
जीवन - जग परकीय कहाँ जब
जन्मों का फल ही स्वकीय है ?

विगत युगों ने जो कुछ पाया,
वह अनुभव हम तक पहुँचाया ।
अब हम वितरक उस अनुभव के,
जो हमने जन्मान्त कमाया ।
जनहितकारी तथ्य कथ्य है,
तथ्य नहीं यदि अकथनीय है ।

१९५३



४३

लिख लिख कितने पत्र न जाने मैंने
नदियों के जल पर तैराये होंगे।
उनमें सम्बोधित थे जीव जगत के,
क्या वह उन तक पहुँच न पाये होंगे ?

यदि न पहुँचते वह, तो मन की पीड़ा
कैसे अपने आप शान्त हो जाती ?
उनके आश्वासन के बिना विकलता
कैसे परिणत चिन्तन में हो पाती ?
पत्रवाहिका लहरों ने लोकों को
पढ़कर मेरे पत्र सुनाये होंगे।

रहे निरखते सुर अत्रप नयनों से
जन-द्वारा जननाश-नीति कुलनाशी।
उधर उन्हें थी दुर्लभ देह मनुज की,
इधर बने मरने वाले अविनाशी।
लख जड़ता अनुभूतिहीन अमरों की,
हृदय भूधरों के भर आये होंगे।

पाले से मरने वाले शिशुओं ने,
रोगों से मरने वाले जनपद ने,
प्रायश्चित किया उनके पापों का,
जो क्षमता की होड़ लगे थे बदने।
नया रूप देने के पूर्व नियति ने
भूखे मानव-पिण्ड तपाये होंगे।

४४

अनुभवगत जगती के सुख-विषाद दीखे।
आयु के झरोखों से किरनें-सी आईं।
स्वर - स्वर में लोकों के गायन लहराये।
रस - पेशल तालों की परनें-सी आईं।

आयु - मान ईंधन बन कल्पना पकाता।
उक्ति के कलेवर में रुचिरता रचाता।
आयु - मान शब्दों में ऊर्जा भर देता।
आप नष्ट हो होकर काव्य को जिलाता।
उसने मृत - शीतल मन रवि - कर से बाँधे।
लहरें अंगारों की हिम पर लहराईं।

भावों में शब्दों के तत्सम अनुशीलन,
शब्दों में ध्वनियों के मधुरिम आयोजन
रंग-रूप दृश्यों के गोचर कर देते,
मुखरित कर प्राण-तन्तु-वाहित जन-जीवन।
द्युति तमिस्र लोकों को देने को पड़ती
सभी ज्योति-तल्पों पर प्रिय की परछाईं।

साधन के फल समस्त ऋतुओं में फलते।
वेदों के नित्य नये संस्करण निकलते।
साधक शशि तारों को शान्त दीप्ति देते,
क्रियता के दिन को लख रात में बदलते।
जग में सत्काव्यों का जभी जन्म होता,
मरण की फड़क उठती तभी आँख बाँईं।

 १६५४

४५

रह जाते याद वही बोल,
जिन पर हो व्यर्थ की बनावट का खोल।
अनसुने जगत में रह जाते कवि-गीत—
नीरव ज्यों शून्य में खगोल।

घोरतम अभावों में,
धधक रहे लावों में,
आते नहीं जो किसी
आँच के प्रभावों में,
उनके लिये है विश्व गीतों का लोक,
शब्द - शब्द दुर्लभ अनमोल।

याद वही स्वर रहते,
मन की - सी जो कहते।
बात दूसरे मन की
कान भला कब सहते ?
भाषा में बाहर की सज्जा ही दृश्य,
छिप जाती भीतर की पोल।

बोल, जो लुभा पाते,
ग्रन्थों में खो जाते।
व्यर्थ बात कह कर भी
लोग मुखर हो जाते।
सींच चेतना से जग बहती चुपचाप
प्राण - वाहिनी की कल्लोल।

१९५४

४६

कनक - कर छूकर किरण के,
सिहर प्राण उठे।
तेज से तन मन तराने
अंशुमान उठे।

पार तनुता के, तुम्हारे
मधुर गान उठे।
क्षितिज - मानों से बहुत
ऊँचे विमान उठे।

चिर मिलन लख, जन विरह को
स्वप्न मान उठे।
रात के जागे उनींदे
भोर जान उठे।

लाँघ जीवन को तुम्हारा
दीप्ति - दान उठे।
तुम, निरन्तर साथ हो, यह
विश्व जान उठे।

४७

अब मत कहना, प्राण, कि मेरी
तनुता से तनुवान बने तुम।
मैं निमित्त होते परवश हूँ,
स्ववश किन्तु फिर भी इतने तुम!

प्राण, तुम्हारी विशद व्याप्ति से
कब रहता बेसुध अन्तर्मन?
मनोनीत नेता के मद में
बेसुध रहता छद्म-तन्त्र मन।
मन को तो दिखलाते ही हो,
सुधि को दिखलाते सपने तुम।

विश्यकाम जन को कामातुर
लख तुम स्वयं काम्य बन जाते।
स्वरस - सनातन - स्वर - लहरी में
लय कर जग - संगीत सुनाते।
संगति में आसिन्धु धरा की
देते एकाकी रहने तुम।

प्राण तुम्हारा अनुभव देता
जन-मन की पीड़ा का अनुभव।
तुम प्रदीप्त रखते जीवन की
जन हित - रत विभूतियाँ अभिनव।
एक चेतना की आभा में
देते जन जन को उगने तुम।

४८

संगति क्योंकि तुम्हारी है,
सुधि प्रतीति से प्यारी है।

किसके लिये खिले यह फूल ?
किसके लिये स्वरित खगवृन्द ?
किसके लिये घिरे यह मेघ ?
किसके लिये लिखे यह छन्द ?
तुम ही तो हो मेरे, प्राण !
जिसकी बाट निहारी है।

तुम रह लो पलकों की छाँह,
तुम रह लो स्वर में रस-रूप
हृदय देहगत यदि है हेय,
सुधि तो है सुविधा अनुरूप।
रहने को काया के पार
ऊँची यही अटारी है।

कैसे जा सकते तुम, प्राण !
मेरी स्तुतियों के उपरान्त ?
उभय प्रकृति में करो निवास,
एक अनन्त, दूसरी सान्त।
सुधि सुखदा है, दुखदा देह,
वह हलकी, यह भारी है।
अन्तर्जग का सुख - संलाप,
और बहिर्जग का उत्ताप,
दोनों में सुधि को अक्षुण्ण
तुम रखते चलते चुपचाप।
अंग अंग संगति से धन्य,
रोम रोम आभारी है।

१९५६

४९

महातेजस - सिक्त नस नस कर प्रवर हे !
प्राण - वल्लभ प्राण - पूषण हे !

तुम तरंगित रक्त करते, रक्त बनता ध्येय,
चूमने पूर्णेन्दु उठता सिन्धु का ज्यों पेय ।
एक विद्युल्लास - सा तेजस उगलते रोम,
और आलिङ्गित कराते तेजसों से लोम ।
क्रोड़ - तेजस बाप का, सुत का वही जग - बोध,
दो हृदय, दो देह मिलते, मूक - सा अनुरोध
एक करता, एक भरता मंत्रवश - सा प्राण ।
प्राण, यह सम्मोह कैसा ? मोह कैसा, प्राण !
मुग्ध कर जग - जातियाँ दो, मुग्धकर हे !
प्राणवल्लभ प्राण - पूषण हे !

यदि मनुज - भुज लख मनुज लिपटे हृदय को खोल,
स्निग्ध सहजग से कलेजे पर कलेजा तोल,
कुछ नहीं, केवल मनुज, हो एक मनुजाकार,
एक तनु, एकात्म विस्तृत एक जन - परिवार ।
मात्र पावन, प्राण ! तुम - सा, और मति - विभ्रंश !
पा मनुज क्षमता घटाये आप अपना वंश !
तुम हमें पावित करो मन से, हृदय से, प्राण !
या निखारो तुम तपा हमको प्रलय से, प्राण !
प्रलय के अवशेष, पावन प्रलयकर, हे !
प्राणवल्लभ प्राण - पूषण हे !

५०

कौन कहे अग जग की बात?
जानी विद्याएँ, पहचानी ममताएँ कभी
थामने न देतीं निज गात।

खेलते समर्पण क्रीड़ाओं से,
काम-मंदिर दाहक छलनाओं से।
रिसता है पुलक-जल लताओं का
फूलों की लदी-गुदी बाँहों से।
प्राण की चिरन्तनता बनी रहे, फूले फले
माया का मधुमय अहिवात।

मानव अग जग के परिकल्पन में
हीन अहं भर लेता चिन्तन में।
सत्य जन-विनाशों से उन्मुख हो,
स्वप्न-नाद सुनता जन-क्रन्दन में—
ज्यों अयुक्तकर्मा जन आपको समझता रहे
अन्य की अपेक्षा अभिजात!

प्रिय ने जग-जीव को सहेजा है।
जन को जन-पालन-हित भेजा है।
जग-दुख का सत्य निरख गुरुमुख का
जन-द्रोही वज्र का कलेजा है।
जन-जगकी सेवामें सिद्धि-लोभ छलता नहीं
अग जग में अगणित व्याघात।

१९५७

५१

राज्य मुझसे दूर तो मैं दूर हूँ उससे ।
प्रीति निर्भर भावनाओं की लचक पर है ।
सम्पदा की गन्ध मुझ तक आ नहीं पाती ।
राज-पथ से दूर मेरा घर सड़क पर है ।

सत्य-सुख की साधना का है जहाँ आग्रह,
कामना भी है असत्सुख की वहीं रहती ।
प्राण, प्रेरित साधनाएँ हैं जहाँ तुमसे,
मन-नियंत्रित कामनाएँ भी वहीं रहतीं ।
भार मन का साधना पर पड़ नहीं पाता ।
भार मन का कामनाओं की कसक पर है ।

नारियाँ गिरतीं जहां सुख के अभावों में,
नर वहीं अतिशय दुखों को झेल जाते हैं ।
वह कमाकर भी कठिन श्रम से न थक पाते,
जागतिक कर्तव्य उनकी गति बढ़ाते हैं ।
हृदय फींके ही बने रहते अभावों में ।
तृप्ति का दायित्व राजा के नमक पर है ।

अर्थ-संचय जन्म देता जब अनर्थों को,
साधना आत्मोन्नयन की व्यर्थ हो जाती ।
अर्थहीनों की अशोभन बस्तियां छिनतीं ।
वास्तविक जन - शक्ति नगरों में न रह पाती ।
है निराश्रित सत्य अर्थायुक्त - शासन में ।
सत्य आश्रित आत्म - दर्शन की ललक पर है ।

५२

सहयोग - दान दो अभावार्त को,
दया - भाव से नहीं,
स्वजन - पीड़ा के अनुभव से ।
गिरतों को उन्नायक सुयोग दो,
दान - भाव से नहीं,
सदृश आत्मा के अनुभव से ।

अनुभूति वही जो बिना बताये
पर - पीड़ा जाने ।
पर - वध की पीड़ा जो अपने
वध की पीड़ा माने ।
अन्यथा व्यर्थ जीवन की जड़ता,
हम जिससे कर सकें
चेतना की आशा शव से ।

त्रयताप सर्वहारा जन के
सहनीय न हो पायें ।
देवता मनुज के चोले में
कर देव - कर्म जायें !
मुखरित हो जग - जन के घर आँगन,
जन - विनाश से नहीं,
जनों के मिलन - महोत्सव से !

१९५८

५३

प्राण, जग की सुधि सुहानी छोड़ दो मेरे लिये ।
साधना की सावधानी छोड़ दो मेरे लिये ।

लोक - जन अनभिज्ञ लोकों के अभावों से न हो ।
सन्तुलन बिगड़ा हुआ धन के प्रभावों से न हो ।
वास्तविक जनशक्ति ही से शक्त शासन - तंत्र हो ।
मुग्ध जगता शक्तिमत्ता के छलावों से न हो ।
हो, गया युग, विगत युग की पाशविकता से बचा ।
कसकती चोटें पुरानी छोड़ दो मेरे लिये ।

एक - सी दीं विश्व को तुमने प्रकृति की झाँकियाँ ।
दीं शुभाशुभ की सभी को एक सी अनुभूतियाँ ।
सृष्टि को सौन्दर्य जो तुमने दिया उसको अभी
नष्ट कर पायीं न युद्धों की भयावह आँधियाँ ।
तुम न आने दो प्रलय की आँच ऐसी सृष्टि को ।
एक इतनी सी निशानी छोड़ दो मेरे लिये ।

स्वर विनाशों के भुला दो नव सृजन के गीत से ।
फिर उठाओ ऋद्धि के निर्माण ध्वस्त अतीत से ।
आदि से अब तक किया तुमने मनुज का उन्नयन ।
हैं असंख्यक पृष्ठ संस्कृति के अभी अनधीत - से ।
किस तरह मिट कर न मिट पायी सुकृत की चेतना,
मैं लिखूंगा यह कहानी, छोड़ दो मेरे लिये ।

५४

आत्म - प्रवंचन के पलने में
उर का प्यार पला करता है।
वही तुम्हारे सतत संग को,
कह कर विरह, छला करता है।

अनुभव की माधुरी बदलती,
व्याप्ति तुम्हारी नहीं बदलती।
सूक्ष्म चेतना की दूरी का
स्थूल मान बदला करता है।

तुमसे अनुप्राणित तनुता को,
तुमसे सुरभित पार्थिवता को,
तुम्हें न छू पाने पर अपना
असफल मोह खला करता है।

कल का स्वप्न, आज का देखा,
आने वाले कल का लेखा।
यों अनित्य की नूतनता से
जग का जी बहला करता है।

निजता तो तुम में खो जाती,
किन्तु न उसमें देह समाती।
मन उन्मन होते होते भी
कई बार मचला करता है।

जीवन - तेज ममत्व तुम्हारा,
देहरूप जीवत्व तुम्हारा,
तरल रश्मियों से धो धोकर
मन का मुँह उजला करता है

१६३०

५५

एक अजन अनजाने वन में
तुमसे लोक बसा लगता है ।
सतत काव्य - संगीत शारदा–
माँ के मन्दिर का लगता है ।

दिव्याकार शून्यता, पाती,
उस तनु में कामना समाती ।
तव मन को सब कुछ पाने पर
क्या जाने कैसा लगता है ।

तुमसे पायी हुई चेतना
दे देती फूलों को रसना,
कण कण इस आसिन्धु धरा का
स्निग्ध सगा तुम - सा लगता है ।

तुमने सोता प्राण जगाया,
दीप्त चेतना - कक्ष बनाया ।
इसके आगे महाशून्य का
रवि धुँधला धुँधला लगता है ।

एक खोखलापन - सा मन का
तुम से रस पाता जीवन का ।
एक तुम्हीं को लेकर, प्रियतम,
यह घर भरा भरा लगता है ।

कैसे तुम दुख में रम जाते,
असुलभ सुख को सुलभ बनाते,
कैसे अलख साथ रह पाते,
यह सब कौतुक - सा लगता है ।

५६

जब मुझे प्राण के पास लाया गया।

सुख अचिन्तित रहा, दुःख आया - गया,
आप ही भाव अपना - पराया गया,
जब मुझे प्राण के पास लाया गया।

शब्द का दूत लाया पकड़ कर मुझे,
सूक्ष्मतम बन्धनों में जकड़ कर मुझे,
किन्तु निर्भय रखा कर्म - सन्यास ने,
वह रहा धैर्य देता बराबर मुझे।
द्वार परमार्थ के भव्य आवास का
तोरणों से प्रकृति के सजाया गया।
गीत स्वर का अनाहत बजाया गया,
जब मुझे प्राण के पास लाया गया।

व्योम को वन्दना की त्वरा थी बड़ी।
थीं चँवर डोलती - सी दिशाएँ खड़ी।
सौर ब्रह्माण्ड द्वारा प्रणव - नाद से
आ गयी प्राण की अर्चना की घड़ी।
प्रतिरवों के तुमुलतम जयोद्घोष से
घोष धाराधरों का दबाया गया,
जब मुझे प्राण के पास लाया गया।

भंग कर्तव्य की मोह - मूर्च्छा हुई,
देह - मद से पृथक् सत्य - संज्ञा हुई।
लोक संसर्ग से प्राप्त विश्वास की
जन्म जन्मान्तरों की तपस्या हुई।
अनुभवातीत उत्सर्ग के लोक में,
मैं कहां हूँ न मुझको बताया गया।
जब मुझे प्राण के पास लाया गया।

१९६२

५७

विश्वास तुम्हारा करुण अभावों में भी सक्षम है ।
जग में सब कुछ पाना भी तुमको पाने से कम है ।

गदराये तुमने अंग अंग वृन्तों - लतिकाओं के ।
आभा से भरे सरोज वदन युवतियों - युवाओं के ।
तुमने शिशुओं-शावकों-कोंपलों को कोमलता दी ।
तुमने मूठों से छिटकाया आलोक दिशाओं में ।
आलिंगन से मादकतर है सहसा तुमको छूना ।
अनुभूति तुम्हारी किसी मस्त पायल की छमछम है ।

जीवन - वर्षों के कर्षण से भय की बिजली बनती ।
नारी जन-भीति मिटाने को यौवन-जननी बनती ।
नारी की तेजोमय सत्ता पशुता का तम हरती ।
तम शेष न रहने पर दिन-सी उजली रजनी बनती ।
है आदि-काल से अब तक यौवन लड़ा विनाशों से ।
यौवन-सुख का पर्युषित रूप युग्मों का संगम है ।

कलियों को खिलने में खिलने का भान कहाँ होता ?
पर मानव को आसक्ति बिना युग-ज्ञान कहाँ होता ?
आसक्ति नहीं होती प्रकाश की जैसे अपने पर,
वैसा मानव होता तो जीवनवान कहाँ होता ?
जिस स्वर में मृदु संवेदन है वह विश्व - विमोहन है ।
जो रूप - गर्व से मुक्त रूप, वह रूप मनोरम है ।

५८

औरों पर शासन करने का नाम नहीं अधिकार ।
अपने मन की कह सकना सब अधिकारों का सार ।

मुझको जो कुछ भी कहना है,
जीवन भर कहते रहना है ।
मैं वाणी को अविजित कहता,
शब्द शब्द साकार समझता ।
शब्दों का आकार अनश्वर,
मैं उसको आधार समझता ।
उस पर टिका हुआ है विश्वासों का व्योम अपार ।
उसके गिर जाने से होगा प्रलय-ग्रस्त संसार ।

सत्य वही जो प्राण-सदृश है,
जीवन दानी और स्ववश है ।
सत्य नहीं वह जो डर जाये,
जो हिंसा से जूझ न पाये ।
कथ्य नहीं वह अन्तर्मन का,
जिसमें सारा जग न समाये ।
तथ्य न वह, जो अननुभूत है,
जो न मनुजता से प्रसूत है ।
माँ की मांसल वत्सलता में सभी विश्व का प्यार ।
वह न विभाज्य व्यक्ति के नाते होगा किसी प्रकार ।

१९६४

५९

युग पुरुष किसने तुम्हारी छीन ली मुसकान ?
छोड़ परमार्थी स्वरस, क्यों कर रहे विष-पान ?

श्रेयकारी मोद, संचारी तुम्हारा हास,
क्रान्तिहर प्रहसन तुम्हारा, क्रान्तिकर परिहास,
वर्ण है आनन्द तो है जाति सार्वजनीन,
तोषदा त्रयताप - त्रासों में तुम्हारी आस ।
ध्येय जनहित से हटा पाये तुम्हारा ध्यान,
दुःख - सुख के अचिर मानों में न इतनी जान ।

तुम रखोगे दीप्त युग युग के अँधेरे कक्ष ।
एक - सा सबके लिये स्पन्दित तुम्हारा वक्ष ।
तुम भरोगे आत्महित में विश्वहित का भाव,
तुम करोगे सत्य - सुख के भेद को प्रत्यक्ष ।
प्रलय पर अम्लान रत्नों की चिरन्तन खान,
यह धरा बनकर रहेगी एक दिन वरदान ।

जानते हो तुम अबतलम व्यक्ति का अवसाद,
तुम बताते विश्व को स्वाधीनता का स्वाद ।
मानते हो तुम सभी का सिद्धि में सम भाग ।
तुम समझते स्वार्थ वश संघर्ष को उन्माद ।
मानते यदि तुम जनार्पित देह का परिधान,
तो असम्भव है मिटा पाये तुम्हें अवसान ।

६०

छोटा - सा चित्र - पटल, छोटी - सी भीत !
फिर कैसे चित्रित हो जन जन की प्रीत ?

अपनों तक सीमित कर सुख का समवाय,
रुद्ध की भिखारी ने दाता की दाय ।
अतिशय सुख, अतिशय दुख, तापों के मूल,
व्यर्थ ही रहे करते शान्ति के उपाय ।
अनुभव ने जोड़ लिये मनमाने अर्थ,
कृशता को हार कहा, भृशता को जीत ।

चित्रहीन कैसा यह नभ का विस्तार !
रँग रहा न दिग्पट को कोई छविकार !
रिक्त पटल जन - मन के रहते जन्मान्त,
हो पाता जगता का चित्र न साकार ।
फिर निदान निजता का परता में लोप—
गये इसी द्विविधा में मन्वन्तर बीत !

दुःख को समा लेता लघुतम उर-मान ।
न्यून हैं समाने को सुख के जग - मान ।
सुख ही है निज दुख में पर सुख का तोष ।
अन्तरिक्ष - सा उसका जगदाश्रय मान ।
रूप रूप - चित्रक की प्रियता के रूप ।
सब ही सित असित रंग प्रिय के अपनीत ।

६१

छोटे छोटे डग, छोटे पग, छोटा-सा दिनमान,
किन्तु कई योजन ले आये तुम मेरा अभियान ।

मैंने, प्राण, तुम्हारे स्वर के बल पर
नाप लिये मरु-मेरु-रसा-वन-सागर ।
सुधि को पंख लगाये व्योमचरण को,
रखा अलक्षित तुमने काल निरन्तर ।
धरा-प्रदक्षिण का चींटी को होने दिया न भान,
क्योंकि तुम्हीं गतिशील रहे उसकी गति मति में, प्राण ।

है अमान आयुष्य-मान अनदेखा ।
अथ का लोभ, न इति का हुआ परेखा ।
गति असीम, गन्तव्य सुविस्तृत करती
निर्देशक बन गति-पथ पर द्युति-रेखा ।
तुमने सूक्ष्म भवोदधि में तैराये वह पाषाण,
जिन्हें डुबा देता अपंग पार्थिवता का अभिमान ।

संयोजन कर मानवीय क्षमता का,
करो नियोजन जन जन की ममता का ।
समझ सके निम्नातिनिम्न अपने को
पात्र तुम्हारी जनकोचित समता का ।
दायित्वों का ध्यान तुम्हारा सबसे शीर्ष प्रदान ।
हो जन का कर्तव्य तुम्हारी कृति में अन्तर्धान ।

• १९६७

६२

व्यक्ति गाये, साथ जग गाये।
वृन्द - गायन विश्व पर छाये।

साँस अपनी, दूर की या पास की,
सम्पदा है काल के इतिहास की।
यह सभी धीमे - तुमुल स्वर
गूँथ लो तो गीत बन जाये।

विश्व के परिवेश में जनपद सभी,
भिन्न सुख दुख में न कोई रंच भी।
चाहिये जन को कि जन की
वृत्ति में अनुरूपता लाये।

व्यक्ति - द्रोही वह सदा को हो गये,
जो स्वहित की योजना में खो गये।
व्यक्ति का सुख देख जिनकी
छातियों पर साँप लहराये।

मोह अन्धा है, निपट निर्मोह है।
नाम ही को वह समाखा मोह है।
मोह सम्मोहक तभी जब
एकरसता मोह में आये।

व्यक्ति का संबल जगत का हास है।
त्रास उसका विश्व भर का त्रास है।
व्यक्ति की सत्ता अकिंचन
यदि न जगता में समा पाये।

१९६८

६३

प्राण, तुम निःशब्द भी सब कुछ बता देते।
मौन से भी भावना का बोध होता है।
जब अधिक साकार होकर तुम मुझे छूते,
प्रेम से भी वासना का बोध होता है।

मैं समझता हूँ, स्वयं रहते हुए भी तुम
मिलन और वियोग की आयोजना करते।
तुम समझते हो कि यदि तुम ही नहीं होते,
तो अकेले यह तुम्हारे जीव क्या करते!
तुम सदा जीवन्त जग की जीवनी-गति हो।
कब सहन तुमसे भला अवरोध होता है।

रुक रहा है आज सहसा काल का पहिया।
हैं उपेक्षित आज भूखे जन कुशासन से।
तीन चौथाई जगत के जीव भूखे हैं।
कवि भुलाते भूख अपनी गीत - गायन से!
पास ही दम तोड़ता जब दीखता कोई,
तो हृदय को यंत्रणा का बोध होता है।

जब उपस्थिति में तुम्हारी व्याधियाँ आतीं,
रोग आते, शोक आते, हानियाँ आतीं,
तो बिछुड़ कर, प्राण, तुमसे विकृति ही होगी।
देह गलने पर न आकृतियाँ ठहर पातीं।
स्ववश तनु रहता तुम्हारी स्ववश संगति में।
विवश तनु से लांछना का बोध होता है।

जीविका ने व्यस्तता अतिशय बढ़ा दी है।
औपचारिकता अभावों ने मिटा दी है।
प्रिय तुम्हारे स्नेह का विश्वास अविचल है।
साधना ने भी प्रगति की मति भुला दी है।
प्रीति मेरी प्रार्थना से मुक्त रहने दो।
प्रार्थना से याचना का बोध होता है।

६४

भावों में व्यर्थ हैं अभावों के सपने ।
कहाँ नहीं अपना घर ? कहाँ नहीं अपने ?

कितने जन्मान्तों ने नये घर बसाये ।
उनमें न कोई भी कभी काम आये ।
एक चेतना है जो रही साथ देती ।
उसने नित नये गीत प्रीत के सुनाये ।
अब भी है वही विश्व मेरा घर - आँगन ।
देह लगी ऊष्मा से प्राण की पनपने ।

जहाँ तुम बसा लेते, वह घर बन जाता ।
जुड़ जाता देहों से देही का नाता ।
आवरण विविध हों पर सत्य एकविध है ।
वह विभेद-वादों का आवरण हटाता ।
तुम बौद्धिक अनुभव के परे ! दूर इतने !
और साँस साँसों में बसे ! पास इतने !

रस-सुरभित सजल वायु तन को उमँगाती,
मोह भरी मिट्टी से मातृ - गन्ध आती ।
विश्वप्राण प्राणों को व्यापकता देता,
और प्रकृति देहों में सुन्दरता लाती ।
दैविक निर्देशन में, स्वजनों से घिरकर,
जनपद में रहने को जन्म लिया जन ने ।

६५

जीव है पूजित प्रवर मेरा,
जन्तु बलिभोजी पितर मेरा।
इष्ट मेरे काम्य कर्मों का
विश्व - मानव, वंशधर मेरा।

अन्न तन का धेय होता है।
प्राण-मन का श्रेय होता है।
और जो इससे इतर मिलता,
वह किसी का देय होता है।
अन्न मेरा अंश भूखों का,
बेघरों का अंश घर मेरा।

बहुश शिशु बहुवर्ण बहुभाषी,
और जन जन स्नेह-अभिलाषी।
रूप - सौरभ सुमन बिखराते,
स्नेह के प्रत्यक्ष प्रत्याशी।
सर्वसुन्दर चित्र-सा प्रिय का,
लाडला है विश्व भर मेरा।

स्नेह के विस्तृत धरातल पर
सब सदृश हैं, अचर हों या चर।
वृन्द - स्वर के ललित गीतों से
काव्य पाता है सहायक स्वर।
जन्म - जीवन - निधन, इन तीनों
सप्तकों के पार स्वर मेरा।

६६

मुझे पथ दीप्त रखने को,
दिशाओं को परखने को,
निशा को दिन बनाना है,
निजी सूरज उगाना है ।

अतिथि दिन भी मुझी जैसा,
सहारा फिर किसे कैसा ?
इसे भी साँझ आयेगी,
इसे भी रात आयेगी ।
मुझे इस रात - दिन - वाली
परिधि के पार जाना है ।

चिरन्तन का उदय कैसा ?
स्ववश को अस्त - भय कैसा ?
सतत जीवन सनातन का,
सतत चैतन्य चेतन का ।
मुझे कारण - करण के बीच का
अन्तर मिटाना है ।

मनुज - समवाय के घेरे
सभी नक्षत्र हैं मेरे ।
प्रकाशित यह जहाँ तक हैं,
वहाँ तक तम निवारक हैं ।
मुझे होते हुए इनके
न होने को भुलाना है ।

६७

मुझे परायी प्रियता का मद जितना दे सकते हो, दे दो ।
मुझे परायी क्रियता का मद नहीं चाहिये, नहीं चाहिये ।

गन्तव्यों के लक्ष्य - विम्ब में जगमग आकृति रहे तुम्हारी ।
मैं अपना आयास न समझूँ यासक अन्विति रहे तुम्हारी ।
कटु से कटु शब्दों में मुझको मेरा जीवन - सत्य बताओ ।
मुझको शब्दों पर छल का छंद नहीं चाहिये, नहीं चाहिये ।

आँसू अनुभव - रस का आसव, जितना चाहो, पियो पिलाओ ।
निर्मद पेय भावनाओं का देकर मन का मद बिसराओ ।
पार्थिव सुख-दुख के प्रति, प्रियतम, पार्थिव ही व्यवहार करो तुम ।
अपने निराकार मुखड़े पर आँसू की सजीवता लाओ ।
तुम मेरी जन्मान्त तृषा को एक बूँद आँसू का जल दो ।
यही बहुत है, मुझे महानद नहीं चाहिये, नहीं चाहिये ।

तुम मेरी विरक्ति में अपनी जन्मान्तर आसक्ति बसा लो ।
मेरे कर्म - काल को अपनी क्रियता से संसार बना लो ।
यौवन और जरा दोनों में एक समान्तर स्मित - रेखा हो ।
कर्म - यज्ञ में सोच समझ कर जन्म मरण की आहुति डालो ।
मुझे अपेक्षा है तो केवल एक कर्म-प्रेरक सहचर की ।
मुझे योग - वैराग्य - विशारद नहीं चाहिये, नहीं चाहिये ।



१६७२


097
185556